वर्ष–2, अंक–9
इंटरनेट संस्करण : 72

पत्रिका गर्भनाल

प्रवासी भारतीयों की मासिक पत्रिका

ISSN 2249–5967
नवम्बर 2012

रामानंद शर्मा ramanand210@gmail.com

अपनी बात

इस मास की कार्तिक पूर्णिमा के साथ ही शरत काल का समापन होगा. पश्चिम में साल के इस मौसम को पतझड़ अथवा फॉल (Fall) कहते हैं. शरत के आगमन का संकेत हवा में हरसिंगार की सुगन्ध से होती है और नंगे पत्रहीन पेड़ तथा जमीन पर बिखरे पीले पत्ते पतझड़ के आने की सूचना देते हैं. आषाढ़ शुक्ल द्वितीया को जगन्नाथ की रथयात्रा निकलने के साथ ही उत्सवों का जो सिलसिला शुरू होता है तो गणपति उत्सव, दुर्गोत्सव, दीपावली से रास पूर्णिमा तक वातावरण में छन्दपतन नहीं होता.

इस सिलसिले के प्रारम्भिक चरणों में आदमी पूरी तरह प्रकृति के नियन्त्रण में था. जब हर प्राकृतिक घटना उसको कौतूहल, श्रद्धा, भय और विनम्रता से भर दिया करती थी. उसे पग-पग पर एहसास हुआ करता था कि प्रकृति से पृथक् एवम् विच्छिन्न होकर जीवन का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता. प्रकृति को समझने के प्रयास में देवताओं का आविर्भाव हुआ. उनकी अनुकूलता की कामना से साहित्य एवम् संस्कृति की रूपरेखा उभड़ी. आषाढ़ के पहले मेघ के साथ कविता का उद्रेक हुआ. कौतूहल और कल्पना की अन्तर्क्रिया से रूपकथाएँ गढ़ी जाती रहीं और इनके झरोखों से प्रकृति और आदमी के बीच सामञ्जस्य स्थापित होता रहा.

भारत में शरत काल वर्ष का सर्वोत्तम काल-खण्ड होता है. खेतों की फसल खलिहान में आ गई होती है, उत्सवों से दिन भरे होते हैं. पत्रिकाएँ विशेषांक प्रकाशित करती हैं, जिनके लिए पाठक प्रतीक्षा कर रहे होते हैं. इन शारदीया विशेषांकों ने मानव सभ्यता और संस्कृति को कितनी ही उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों का उपहार का दान दिया है. जिस दुनिया में हम रहते हैं, उसे समझने के लिए किताबें ज़रूरी औजार का काम करती हैं. हो सकता है, किसी एक पुस्तक में एक मुखर पंक्ति के अलावे आपको कुछ न मिले. पर वही एक पंक्ति आपको आदमी के और करीब ले आती है और एक नूतन मुस्कान अथवा एक नए तिक्त भाव को जन्म देती है. आदमी के स्वभाव की जटिलता के सम्बन्ध में ऑस्कर वाइल्ड की उक्ति सटीक है, 'एक व्यक्ति दूसरे को सलाह देने के लिए बहुत ही उत्सुक रहता है, जबकि खुद उसे इसकी जरूरत अधिक होती है.' विडम्बना यह है कि हम सलाह देने के लिए जितना बेचैन रहते हैं, सलाह कबूल करना हमें उतना ही अपमानजनक और नागवार गुजरता है. लेकिन कहानियों, कविताओं और निबन्धों के रूप में किताबें जब वे बातें ही हमसे कहती हैं तो हम उन्हें सम्मान देते हैं.

रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार मैक्सिम गोर्की ने लिखा है कि यदि आदमी के बारे में वैज्ञानिकों एवम् साहित्यकारों द्वारा लिखी गई पुस्तकें नहीं पढ़ी जाएँ तो उसको समझना असम्भव है. आदमी के ऊपर कितनी ही विभिन्न तरह की माँगें रहती हैं, कितनी ही जरूरतें और जिम्मेदारियां रहती हैं. धरती को बारह महीनों में सूरज के चारों तरफ एक चक्कर पूरा करते रहने के साथ-साथ अपनी धूरी पर चौबीस घंटों में एक चक्कर पूरा करना पड़ता है, बिना किसी की अवहेलना किए. आदमी पर एक साथ तीन स्तरों की माँगें पूरी करने के प्रति प्रतिबद्धता सतत बनी रहती है. अपने लिए हमारी भावनात्मक और भौतिक जरूरतें और इच्छाएँ होती हैं, अपने निकट परिवार के सदस्यों के प्रति जिम्मेदारियाँ होती हैं. अपने माहौल को संगत रखे बगैर पहली इन दो जरूरतों का खयाल नहीं रखा जा सकता है. अक्सर इन तीनो स्तर की माँगों के प्रति संवेदनशील रहने पर इनमें द्वन्द्व होता है, प्राथमिकता के सवाल उठते हैं और हर व्यक्ति के लिए अलग-अलग आयाम उभड़ते हैं.

साहित्य की अहमियत के सम्बन्ध में उर्दू के विद्वान साहित्यकार अशहर नज़्मी का उद्धरण गौर करने लायक है : *साहित्य से "हमारे समाज की बहुत सारी अपेक्षाएँ जुड़ी हैं, जो अक्सर लेखकों के सामने उसकी फेहरिस्त पेश करता रहता है और उन्हें उनके कर्तव्यों और जिम्मेदारियों की याद दिलाता रहता है. दिलचस्प बात यह है कि हमारे ज्यादातर लेखक भी इस खुशफहमी में मुब्तला हैं कि वो समाज का बहुत अहम हिस्सा हैं और उसके निर्माण व संस्कार में उनका असाधारण किरदार है. हमारा समाज साहित्य का मुँहताज नहीं है पर लेखकों का पाया जाना ज़रूरी भी समझता है. आज सिर्फ साहित्य का वजूद सवालिया निशान बनकर हमारे सामने ख़ड़ा नहीं है, बल्कि इस हवाले से हमारी पूरी तहज़ीबी-शिनाख़्त ज़द में है. एक ऐसे वक़्त में हम भाषा और साहित्य की नुमान्दगी कर रहे हैं, जब समाज ने उन्हें रद्द कर दिया है. उसने हम लेखकों को बता दिया है कि उसे उनकी कोई जरूरत नहीं. साहित्य के बिना भी ये दुनिया चलती रही है और चलती रहेगी. एक डॉक्टर, एक इंजीनियर, एक धोबी, एक किसान, एक नाई, एक मजदूर अपने-अपने पेशे में साहित्य के बिना भी कामयाब रहते हैं और रहेंगे, क्योंकि भौतिकता ने पूरे समाज को एक न खत्म होने वाले मैराथॉन का हिस्सा बना दिया है. दूसरी तरफ जिस नई नस्ल से हमारा वास्ता पड़ा है, वो सेल फोन, चैटरूम, फेसबुक और टिवटर जैसी दूसरी सरगर्मियों में लिप्त हैं, जहाँ उन्हें इमिडियट रिस्पॉन्स मिलता है. गौर व फिक्र करने के लिए उनके पास एक लम्हा महफूज नहीं, न उन्हें इसकी जरूरत है. दिन के हर घंटे की तफरीह के लिए इतने मसाले मौजूद हैं कि उनका मुकाबला भला साहित्य कहाँ से कर सकता है. मैं इस नस्ल पर कोई इलजाम नहीं लगा रहा हूँ, बल्कि उसे ऐसी मजलूम नस्ल मान रहा हूँ जिसका टेकनॉलॉजी ने, चूहेदान में अपनी नित नई पेशकश को पनीर के टुकड़े की तरह इस्तेमाल करके शिकार किया है. मैं नई टेकनॉलॉजी का विरोधी नहीं, बल्कि खुद भी उससे फायदा उठाता रहा हूँ, लेकिन जिस तरह से उसने पूरी जिन्दगी को अपना गुलाम बना लिया, वो बहुत चिन्तनीय है. अतीत में हमारा समाज इस हद तक मानसिक विपन्नता का शिकार नहीं हुआ था, जितना अब नजर आ रहा है.*

जिन्दगी ऐसे सवाल पूछती रहती है जिनके जवाब नहीं हुआ करते. सामान्यतः शिक्षण संस्थाओं में ही ऐसे सवाल पूछे जाते हैं जिनके जवाब तयशुदा हों."

ganganand.jha@gmail.com

पत्रिका
गर्भनाल

वर्ष-2, अंक-9 (इंटरनेट संस्करण : 72)
नवम्बर 2012

सम्पादकीय सलाहकार
गंगानन्द झा

परामर्श मंडल
वेद मित्र, एम.बी.ई., यू.के.
डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, ऑस्ट्रेलिया
अनिल जनविजय, रूस
अजय भट्ट, बैंकाक
देवेश पंत, अमेरिका
उमेश ताम्बी, अमेरिका
आशा मोर, ट्रिनिडाड
डॉ. अनिल विद्यालंकार, भारत
डॉ. ओम विकास, भारत

सम्पादक
सुषमा शर्मा

तकनीकि सहयोग
डॉ. राजीव यादव, न्यूयार्क

आकल्पन सहयोग
डॉ. बृजेश तिवारी, लखनऊ

कम्पोजिंग
प्रताप परिहार

कानूनी सलाहकार
संजीव जायसवाल

सम्पर्क
डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी,
जे.के. रोड, भोपाल-462023 (म.प्र.) भारत.
ईमेल : garbhanal@ymail.com

आवरण छायाचित्र
आ.रा. शर्मा

प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के अपने हैं, जरूरी नहीं है कि सम्पादक इससे सहमत हों. विवाद की स्थिति में केवल भोपाल न्यायालय क्षेत्र ही रहेगा.

>> 4
कितना पैसा? कितना काम?

>> 8
लोकतंत्र और नेता

>> 15
सम्वेदना और सहनशीलता क्यों मर रही हैं?

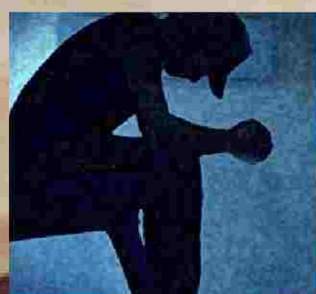

>> 17
मेरे कंधे, उनकी बंदूक

इस अंक में

बहस : अनुराग शर्मा 4
डॉ. अमिता कौंडल 7
मन की बात : डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री 8
सामयिक : भूपेन्द्र कुमार दवे 10
कौशलेन्द्र प्रपन्न 11
मुद्दा : डॉ. मान्धाता सिंह 13
विचार : कैलाश शर्मा 15
रम्य-रचना : महेन्द्र कुमार शर्मा 17
बातचीत : मधु अरोड़ा 20
नजरिया : राजकिशोर 23
व्याख्या : मनोज कुमार श्रीवास्तव 26
चिन्तन : बृजेन्द्र श्रीवास्तव 32
वेद की कविता : प्रभुदयाल मिश्र 33
गीता-सार : अनिल विद्यालंकार 34
प्रश्नोत्तरी : डॉ. ओमप्रकाश गुप्ता 35
पंचतंत्र : 36
महाभारत : 38
अनुवाद : आलफोंस दॉदेत 40
कविता : रमेश जोशी 43
विजय निकोर 44
अमिताभ पाण्डेय 'शिवार्थ' 45
रेखा मैत्र 46
श्रीमती आशा मोर 47
डॉ. सुभाष शर्मा 48
शुभ्रा चतुर्वेदी 49
शायरी की बात : नीरज गोस्वामी 50
कहानी : कुसुम नैपसिक 51
खबर : 55
आपकी बात : 56

अनुराग शर्मा

उत्तरप्रदेश में जन्म. विज्ञान में स्नातक तथा प्रबंधन में स्नातकोत्तर. इन्टरनेट रेडियो (PittRadio) चलाने के अलावा हिन्दयुग्म पर प्रसारित स्वर-आकर्षण 'सुनो कहानी' का संचालन. कविता, कहानी, लेख आदि विधाओं में सतत लेखन. पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति पर सृजनगाथा में मासिक श्रृंखला एवं काव्य-संग्रह 'पतझड़ सावन वसंत बहार' प्रकाशित. Friends of Tibet (भारत) और United Way (संयुक्त राज्य अमेरिका) जैसे समाजसेवी संगठनों से जुड़े रहे हैं. संप्रति - अमेरिका में एक स्वास्थ्य संस्था में ऍप्लिकेशन आर्किटेक्ट हैं और पिटसबर्ग में रहते हैं.

सम्पर्क : indiasmart@gmail.com

कितना पैसा? कितना काम?

भारत में एक सरकारी बैंक की नौकरी के समय उच्चाधिकारियों द्वारा जो एक बात बारम्बार याद दिलाई जाती थी, वह यह थी कि हम २४ घंटे के कर्मचारी थे. यह सर्वज्ञात था कि हमारा वेतन हमारे उस अतिरिक्त समय के हिसाब से तय नहीं किया जाता था. मेरे कितने ही अधीनस्थ मुझसे अधिक वेतन भत्ते पाते थे. कम्युनिस्ट देशों में तो वेतन कर्मचारी के काम, अनुभव या शिक्षा आदि पर आधारित न होकर सरकार द्वारा आँकी गई उनकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारित होता था.

आज समय बदल चुका है. कम्युनिस्ट तंत्र तो अपनी विद्रूपताओं के चलते दुनिया भर से लगभग साफ़ ही हो चुके हैं. नये संचार माध्यम और व्यापक जागरूकता के कारण सैन्य और धार्मिक तानाशाहियाँ भी समाप्ति के कगार पर ही हैं. लोकतंत्र का दायरा बढ़ता जा रहा है. और इसके साथ ही बढ़ रही है व्यक्तिगत सम्पत्ति और व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता. भारत, जापान, जर्मनी और अमेरिका जैसे लोकतंत्रीय राष्ट्रों में सिद्धांततः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मर्ज़ी का काम करने की पूरी स्वतंत्रता है. और उसी तरह कम्पनियों को भी आवश्यकतानुसार सुशिक्षित, कुशल और पद के लिये सटीक व्यक्ति चुनने और उन्हें भरपूर वेतन-भत्ते देने का अधिकार है.

> भारत में रहते हुए किसी विदेशी संस्थान में काम करना एक अलग ही अनुभव है क्योंकि तब आप भारतीय परिवेश में रहते हुए भी अमेरिकी जीवन-स्तर के निकट होते हैं.

श्रम है तो उसके मूल्य की बात उठना स्वाभाविक ही है. विभिन्न कर्मचारियों के कार्य की परिस्थितियाँ एक दूसरे से अलग होती हैं और उसी प्रकार उनके वेतन की संरचना भी अलग होती है. कुछ दशक पहले के भारत में व्यक्ति एक बार एक नौकरी में घुसता था तो रिटायर होकर ही निकलता था लेकिन अब हालात दूसरे हैं. सूचना-संचार क्रांति और अंतर्राष्ट्रीय निगमों के आने के बाद से नौकरी के क्षेत्र में गलाकाट प्रतिस्पर्धा चल रही है. कर्मचारियों को ऊँची तनख्वाह देना नियोक्ताओं का नैतिक कर्तव्य ही नहीं उनकी मजबूरी भी बन गया है. 'पैकेज' आज के युवा का मूलमंत्र सा है.

विज्ञान की प्रगति के साथ संसार भी सिकुड़-सा गया है. एक-दूसरे देश में आना-जाना पहले से कहीं आसान हुआ है. इसके साथ ही अपने घर बैठे-बैठे दूर देश के नियोक्ता के लिये काम कर पाना भी सम्भव है. नियोक्ता और कर्मचारी के देशों के बीच की प्रति-व्यक्ति आय में अंतर होना भी स्वाभाविक है. अमेरिका में रहकर काम करते हुए भारत से अधिक वेतन पाना सामान्य बात है क्योंकि वहाँ का जीवन स्तर और जीवन यापन की लागत दोनों ही अलग हैं. कार्य-संस्कृति भी अलग है. भारत में रहते हुए किसी विदेशी संस्थान में काम करना एक अलग ही अनुभव है क्योंकि तब आप भारतीय परिवेश में रहते हुए भी अमेरिकी जीवन-स्तर के निकट होते हैं. इन विदेशी संस्थानों के सामने अपने मानव संसाधनों को न केवल बनाये रखने की चुनौती है बल्कि उसी संस्थान में रहते हुए उनको आगे बढ़ने की प्रेरणा देने का ज़िम्मा भी है. ये संस्थान एक बड़ी चुनौती का सामना कर रहे हैं. बिल्कुल भिन्न वातावरण से आये, बल्कि कई बार दूर देश में ही रहते हुए काम कर रहे कर्मियों को अपनी कार्य संस्कृति से परिचित कराना, उन्हें एक अपरिचित नियमितता में ढालना आसान काम नहीं है. नैतिक, सामाजिक भेदों के अलावा बहुत से वैधानिक अंतर भी हैं जिन्हें समझने के लिये कर्मचारी चयन प्रक्रिया का एक उदाहरण काफ़ी है. भारत से आने वाले बहुत से आवेदनों में आवेदक के शिक्षा-वृत्त में जन्मतिथि, डिग्री पाने की तारीखें और माता-पिता के नाम आदि सामान्य-सी बातें है जबकि अमेरिका में किसी आवेदक के जीवनवृत्त में सामान्यतः ऐसा कुछ नहीं होता जिससे उसकी आयु, सामाजिक स्थिति आदि का पता लग सके. बस काम से काम रखना शायद इसी को कहते हैं. भेदभाव से बचने के लिये, साक्षात्कार के जटिल नियमों के अनुसार किसी आवेदक के राष्ट्रीय मूल, आयु आदि के बारे में पूछना ग़ैर-क़ानूनी बनाया गया है. खासकर अमेरिका में पनपी बहुविध संस्कृति ने अपने द्वार दुनियाभर के योग्य कर्मचारियों के खोल रखे हैं.

> *सूचना क्रांति के आरम्भिक दिनों की बात है जब बैंगलुरु जैसे नगरों में सूचना प्रौद्योगिकी में काम कर रहे कर्मचारी भोजनावकाश के समय भर्ती करनेवालों के दलों द्वारा घेर लिये जाते थे. समय के साथ तरीके बदले हैं लेकिन आधुनिक तकनीक की बढ़ती मांग को न कोई मन्दी और न कोई युद्ध ही मिटा सका है.*

बुद्धि-श्रम सम्मान के इस भौगोलिक परिदृश्य में आज के इस समय में भारत की स्थिति विशिष्ट है. भारतीय संस्कृति ने अनेक धार्मिक, ऐतिहासिक कारणों से शिक्षा को सदैव ही मूर्धन्य स्थान दिया है. भले ही आज़ादी के दशकों बाद भी देश का निर्धन वर्ग मूलभूत साक्षरता से वंचित हो, भले ही खेलों में हमारी दशा अति-शोचनीय हो, हमारे शिक्षण संस्थानों से आज भी किसी अन्य देश से अधिक चिकित्सक, अभियंता और अनुसन्धानकर्ता निकलते हैं. सूचना क्रांति के आरम्भिक दिनों की बात है जब बैंगलुरु जैसे नगरों में सूचना प्रौद्योगिकी में काम कर रहे कर्मचारी भोजनावकाश के समय भर्ती करनेवालों के दलों द्वारा घेर लिये जाते थे. समय के साथ तरीके बदले हैं लेकिन आधुनिक तकनीक की बढ़ती मांग को न कोई मन्दी और न कोई युद्ध ही मिटा सका है.

किसी भारतीय को बहुराष्ट्रीय संस्थान द्वारा उच्च पद या अद्वितीय रूप से बड़ा वेतन दिया जाना अक्सर अखबारों की सुर्खी बनता है. पिछले दिनों फ़ेसबुक ने भोपाल के मौलाना आजाद नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी (मैनिट) में कैंपस प्लेसमेंट के लिए छात्रों के वृत्तांत मांगे थे जिनमें से चुने गये छात्रों को अस्सी लाख रुपये से लेकर सवा करोड़ तक का वेतन दिये जाने की सम्भावना है. यह वेतन अब तक के सबसे बड़े प्रस्तावों में से एक है. ऐसी खबर पढ़कर जहाँ प्रसन्नता होती है वहीं कई प्रश्न भी उठते हैं, यथा : ऐसा कौन सा काम है कि जिसके लिये इतना बड़ा पैकेज प्रदान किया जाता है? आखिर बड़े वेतन तय कैसे होते हैं? बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कामकाज और उनके प्रतिभा खोज अभियान कैसे काम करते हैं? आदि.

सरकारी क्षेत्रों के वेतन अक्सर किसी व्यापक अध्ययन या किसी आयोग की सिफ़ारिशों पर आधारित होते हैं. कुछ क्षेत्रों में आज भी मज़दूर संघ हैं जो प्रबन्धन से बातचीत करके एक नियमित अंतराल के लिये वेतन करार करते हैं. कम कर्मचारी, विशिष्ट तकनीक, नवोन्मेषी उत्पाद और विश्व-

व्यापी व्यवसाय वाले संस्थान अक्सर अपने वेतन तय करने के लिये पद की अर्हतायें, योग्यता की सुलभता, जन-संसाधन के बारे में उपलब्ध जानकारी व तकनीक आदि के साथ-साथ नवांगतुक की व्यक्तिगत विशेषताओं को भी ध्यान में रखते हैं. अधिकांश कार्यस्थलों की संरचना इस प्रकार की होती है कि शारीरिक विकलांगता, लिंगभेद आदि के कारण किसी कर्मचारी के साथ जाने-अनजाने भेदभाव न हो.

बहुत से पदों के वेतनमान कार्य की विशेषता और नियोक्ता की भौगोलिक स्थिति से रूढ होते हैं लेकिन तब भी सक्षम कम्पनियाँ अपनी पहल बनाये रखने के लिये अधिक वेतन व सुविधायें देकर बेहतर कर्मचारी पाने को लालायित रहती हैं. लेकिन कई बार ऐसा भी होता है कि पद और वेतन का कार्य निष्पादन से कोई खास संतुलन नहीं बन पाता. कितनी ही बार बड़ी कम्पनियाँ किसी बड़े सौदे की आशा में कर्मचारियों की फ़ौज खड़ी कर लेती हैं ताकि काम मिलने की स्थिति में उसे कुशलता से निबटाया जा सके. काम आया तो ठीक वर्ना ऐसे कर्मचारियों को स्थानांतरण या बर्खास्तगी का सामना भी करना पड़ता है.

रोज़गार के क्षेत्र में नित नई जानकारी का प्रयोग भी धड़ल्ले से हो रहा है. कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा कैसे रहे? उनकी अभिप्रेरणा क्या हो? ऐसा क्या किया जाये कि काम से उन्हें उदासी नहीं, प्रसन्नता मिले. भारत में केनरा बैंक में नौकरी के समय से मुझे मनन-कक्ष (मेडिटेशन रूम) का विचार याद है. अमेरिका की अधिकांश कम्पनियाँ अपने कर्मचारियों को मूलभूत से अधिक सुविधायें देने का प्रयास करती हैं. फ़्लेक्सि-ऑवर्स यानि कर्मचारी की सुविधानुसार कार्य-समय का निर्धारण, स्वास्थ्य सुविधा, जीवन बीमा, आवागमन, पार्किंग स्थल आदि से कहीं आगे बढ़कर कर्मचारियों को उच्च या विशिष्ट शिक्षा की सुविधायें देना, घर से काम करने का सुरक्षित वातावरण प्रदान करना, दूसरे नगर, देश आदि से आने पर आने-जाने, सामान पहुँचाने से लेकर पुराना घर बेचने और नया घर लेने आदि जैसे कार्य भी कई बार नये नियोजक द्वारा निष्पादित किये जाते हैं. भारत से आये कर्मचारियों के लिये विधिक प्रायोजन और ग्रीन कार्ड आदि से सम्बन्धित खर्च करना भी एक आम बात है.

"आज के बहुराष्ट्रीय संस्थानों का एक ही मूलमंत्र है, सर्वश्रेष्ठ कर्मचारी पाना जो संख्या में भले ही कम हों मगर काम में किसी से भी कम न हों और इस काम के लिये धन कोई बाधा नहीं है."

यदि कम्पनी किसी पद के लिये अनुभव के साथ-साथ प्रबन्धन की शिक्षा की आवश्यकता महसूस करती है तो उसके सामने कई विकल्प दिखते हैं. किसी अनुभवी कर्मचारी को शिक्षित करना या पहले से शिक्षित अनुभवी कर्मचारी को लेना. क्या किया जायेगा यह अनेक बातों पर निर्भर करता है, जैसे आवश्यकता की योजना कितने पहले बनाई जा चुकी है, अनुभवी एमबीए कितने सुलभ हैं और बाहर से उन्हें बुलाने में क्या-क्या अड़चनें हैं. कुल मिलाकर आज के बहुराष्ट्रीय संस्थानों का मूलमंत्र है, सर्वश्रेष्ठ कर्मचारी पाना जो संख्या में भले ही कम हों मगर काम में किसी से भी कम न हों और इस काम के लिये धन कोई बाधा नहीं है.■

डॉ. अमिता कौंडल

हिमाचल प्रदेश में जन्म एवं अमेरिका में अस्थाई रूप से रह रही हैं. सूक्ष्म एवं आण्विक जीव विज्ञान में पी.एचडी की है एवं पोस्ट डॉक फैलो के पद पर कार्यरत. स्कूल-कॉलेज में कविता पाठ, वाद-विवाद, भाषण, निबंध लेखन, नृत्य व अभिनय प्रतियोगिताओं में भागीदारी. कवितायें लिखती हैं एवं इंटरनेट की पत्रिकाओं में सक्रिय हैं.

सम्पर्क : a75_kaundal@yahoo.com

देश याद आता है

भारतीय प्रतिभाओं का विदेश में पलायन कोई नई बात नहीं है. इसका कारण जहाँ एक तरफ उनका देश में सम्मान न होना है, तो दूसरा बढ़ता भ्रष्टाचार है. कुछ समय के लिए विदेश जाना, वहां से नया अनुभव लेना कोई बुरी बात नहीं, परन्तु अपने देश को छोड़कर केवल कुछ सुख-सुविधाओं और धन की लालसा में विदेशी बन जाना केवल स्वार्थ है. एक बड़े संस्थान से शिक्षा प्राप्त कर, ऊँची-ऊँची छात्रवृत्तियां पाकर एक विद्यार्थी जब विश्व की सर्वश्रेष्ठ डिग्रियां प्राप्त करता है तो उसका उत्तरदायित्व क्या केवल जीविका कमाना भर रह जाता है? यदि कोई भी प्रतिभाशाली विद्यार्थी ऐसी सोच रखता है तो यह कदाचित अनुचित है और उसका निहित स्वार्थ है. हम बड़े-बड़े संस्थानों से इसलिए शिक्षा प्राप्त नहीं करते कि कल हम विदेश जाकर दो समय की रोटी, दस मंजिला मकान और ढेर सारा धन बैंको में भर लें. जब राष्ट्र एक विद्यार्थी को एक इंजीनियर या डॉक्टर या वैज्ञानिक बनाता है तो उस व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य होता है कि वह अपनी शिक्षा का उपयोग देश की उन्नति में करे, जीविका अपने आप चल पड़ेगी और इस कार्य के लिए यदि वह कुछ समय विदेश आकर अनुभव ले तो कोई बुरी बात नहीं, पर स्वार्थ तब होता है जब विदेश की सुख-सुविधाओं में वह अपना दायित्व भूल विदेशी बन जाता है. हर ऊँचा कार्य करने के लिए कई बुराईयों और समस्याओं का सामना करना पड़ता है, क्या एक एनआरआई बनने के लिए हमें इन जैसी कई समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता? तो फिर क्यों न घर में रह कर, अपने देश में रह कर हम उन समस्यों का सामना करें उनका समाधान खोजें, जो सिस्टम खराब है उसे सुधारने का प्रयत्न करें. ताकि हमारा देश भी सुविधा सम्पन्न देश बन सके. हालाँकि एक तथ्य यह भी है कि एक व्यक्ति समाज नहीं बदल सकता पर एक व्यक्ति शुरुआत तो कर सकता है एक कड़ी तो जोड़ सकता है.

जब विदेश का एकाकी जीवन जीकर व्यथित हो जाते हैं और अपने आपको बेगानों की भीड़ में अकेला पाते हैं तो देश याद आता है पर तब तक देर हो चुकी होती है. बच्चे इतने विदेशी बन जाते हैं कि भारत का नाम नहीं सुनना चाहते और देश में कोई अपना नहीं बचता.

यह कहना अतिश्योक्ति होगी कि वर्तमान में भारतीय संस्कृति का स्वरूप वैसा ही निर्विवाद है. समय के साथ हमारी संस्कृति में अनेकों कुरीतियाँ, जिसे लोगों ने सदियों से अपनी सुविधा अनुसार परम्पराओं का नाम देकर धर्म के साथ जोड़ दिया है. यही कुरीतियाँ यदि हमारी संस्कृति से, देश से निकल जाएँ तो हमारा संस्कारित भारत सच में धरती पर स्वर्ग बन सकता है. परन्तु इन कुरीतियों, समस्याओं को सुधारने के बजाय हम पढ़े-लिखे भारतीय डॉलर के मोह में और क्षणिक सुविधाओं की चाह में विदेशी बनना ज्यादा उचित समझते हैं. कुछ का कहना है कि भारत सुरक्षित नहीं है, अपने परिवार और बच्चों की सुरक्षा के लिए हम भारत छोड़ आये. अरे भारत है तो हम हैं जब भारत सुरक्षित नहीं है तो आप उसे छोड़ के क्यों आये? उसको सुरक्षित बनाने का उपाय सोच कर उस पर अमल क्यों नहीं किया? कुछ कहते हैं सत्ता भ्रष्टाचार में लिप्त है. सत्ता किसने बनाई? हरेक कार्यालय में काम करने वाला कर्मचारी कौन है? रिश्वत देने वाला कौन है? और लेने वाला कौन है? सभी जगह भारतीय हैं, हम हैं. तो सुधरना किसे है? हमें सुधरना है. हम हमेशा दूसरे को ही क्यों सुधारना चाहते हैं? हर चीज़ की शुरुआत स्वयं से होती है पर सुधरने और सुधारने की बजाय हम भारत से प्रतिभा ले उसे उसके हाल पर छोड़ के आ जाते हैं. और जब भी भारत लौट के न जाने का कारण पूछा जाता है तो कई समस्याओं की एक लम्बी सूची बना कर अपने आपको सही साबित कर देते हैं. परन्तु जब विदेश का एकाकी जीवन जीकर व्यथित हो जाते हैं और अपने आप को बेगानों की भीड़ में अकेला पाते हैं तो देश याद आता है पर तब तक देर हो चुकी होती है. बच्चे इतने विदेशी बन जाते हैं कि भारत का नाम नहीं सुनना चाहते और देश में कोई अपना नहीं बचता. विदेश आना बुरी बात नहीं, बुरी बात है विदेशी बन जाना. अपने आप को सुख-सुविधाओं के इतना अधीन नहीं कर देना चाहिए कि फिर उनसे स्वतंत्र होना असंभव हो जाए. हर समस्या का समाधान होता है उससे भाग कर हम केवल उसे बढ़ाते हैं और जीवन भर अपने आपको उस के अपराध बोध से मुक्त नहीं कर पाते. ■

डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री
सदस्य, हिंदी सलाहकार समिति (राजस्व), वित्त मंत्रालय, भारत सरकार
सम्पर्क : पी/१३८, एम.आई.जी., पल्लवपुरम-२, मेरठ २५०११०
ईमेल : agnihotriravindra@yahoo.com

मन की बात

लोकतंत्र और नेता

अनेक विद्वानों का मानना है कि लोकतंत्र की परम्परा अपने देश में बहुत पुरानी है. सांस्कृतिक जागरण काल के एक प्रमुख नेता महर्षि दयानंद सरस्वती ने इसे वैदिक कालीन बताया है. अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लगभग चालीस पृष्ठों का एक पूरा अध्याय 'राजधर्म' पर लिखा जिसमें वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों आदि से उद्धरण देकर यह बताया है कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को किस प्रकार शासन व्यवस्था चलानी चाहिए. अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला है. जिन लोगों को विदेशी विद्वानों की ही बातें प्रामाणिक लगती हैं, उन्हें तो यह जानने के बाद ही संतोष होगा कि ग्रीक इतिहासकार डायोडोरस (ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी) ने भी अपने ग्रन्थ 'हिस्टोरिकल लायब्रेरी' (२/३९) में स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था थी. एरियन, कर्टियस आदि ने तो यहाँ तक लिखा है कि भारत के गणतंत्र ग्रीक गणतंत्र (Polis) से भी बड़े थे. निपिसिंग यूनिवर्सिटी (ओंटेरियो, कनाडा) में इतिहास के प्रोफ़ेसर स्टीव मुल्बर्गर ने तो 'डेमोक्रेसी इन एंशीएंट इंडिया' पुस्तक ही लिखी है. इसके

> प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में लगभग चालीस पृष्ठों का एक पूरा अध्याय 'राजधर्म' पर है जिसमें वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों आदि से उद्धरण देकर यह बताया है कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों को किस प्रकार शासन व्यवस्था चलानी चाहिए.

बावजूद यह सत्य है कि जिन लोगों ने वर्तमान संविधान बनाया और देश में लोकतांत्रिक व्यवस्था अपनाने का निश्चय किया, उन्होंने लोकतंत्र की अपनी पुरानी परम्पराओं को पुनर्जीवित करना न उचित समझा न आवश्यक. उन्होंने तो यूरोपीय देशों की, विशेष रूप से इंग्लैण्ड की 'डेमोक्रेसी' की नक़ल की. इसीलिए संविधान भी मूलरूप से अंग्रेजी में बनाया. पर नक़ल तो नक़ल ही होती है. जिस डेमोक्रेसी की नक़ल करने का हमने दावा किया, उसका स्वरूप इंग्लैण्ड में क्या है, इसकी ओर इंगित करने वाली इंग्लैण्ड में हाल ही में घटी दो घटनाएँ प्रस्तुत हैं.

इंग्लैण्ड में डॉ. लायम फ़ॉक्स (Dr. Liam Fox) कंज़र्वेटिव पार्टी के एक नेता हैं और नार्थ सॉमरसेट से संसद सदस्य हैं. उनके एक घनिष्ठ मित्र एडम वेरिटी (Adam Werritty) स्काटिश व्यवसायी हैं. व्यवसाय में भी ये दोनों लोग साथी रहे हैं. दोनों पहले हेल्थ केयर कन्सल्टेन्सी फर्म में भागीदार थे. ब्रिटेन, ऑस्ट्रेलिया, अमरीका आदि अनेक देशों में परम्परा है कि संसद में विपक्षी दल भी अपनी 'शैडो कैबिनेट' बनाता है. डॉ. फ़ॉक्स की पार्टी जब विपक्ष में थी तो

डॉ. फ़ॉक्स 'शैडो डिफेंस सेक्रेटरी' थे. तब वेरिटी भी उनके साथ विदेश यात्राओं में प्रायः जाया करते थे. अब जब डॉ. फ़ॉक्स की पार्टी सत्ता में आ गई तो वर्ष २०१० में डॉ. फ़ॉक्स को 'सेक्रेटरी ऑफ़ स्टेट फॉर डिफेंस' बनाया गया. कुछ ही समय बाद एडम वेरिटी पर यह आरोप लगा कि उन्होंने अपने मित्र डॉ. फ़ॉक्स के पद का दुरुपयोग किया, अपने को उनका 'सलाहकार' बता कर उद्योगपतियों के साथ अनेक अनौपचारिक बैठकें कीं और सलाहकार बताकर ही रक्षा मंत्रालय तक पहुँच गए. इतना ही नहीं, डॉ. फ़ॉक्स की विदेश यात्राओं में वे भी साथ गए.

पाठक जानते ही होंगे कि ब्रिटेन में भी इस समय द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की पहली गठबंधन सरकार है जिसमें कंज़र्वेटिव के साथ लिबरल डिमोक्रेट्स भी शामिल हैं. डॉ. फ़ॉक्स की छवि एक योग्य और ईमानदार व्यक्ति की रही है. वे प्रधानमंत्री डेविड केमेरून के अत्यंत विश्वासपात्र भी हैं. अतः जब आरोपों की आंच आई तो फ़ॉक्स ने पहले तो स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया, पर बाद में 'न्यायालय में आरोप सिद्ध होने की प्रतीक्षा' करने के बजाय दो-टूक शब्दों में अपनी लापरवाही के लिए स्वयं को जिम्मेदार माना और त्यागपत्र दे दिया. यद्यपि जांच अभी चल ही रही थी, रिपोर्ट अभी आई नहीं थी और अभी तक ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं हुआ था कि वेरिटी के ज़रिए डॉ. फ़ॉक्स ने कोई लाभ उठाया हो, इसके बावजूद त्यागपत्र के लिए उन्होंने संदेह को ही पर्याप्त माना. उन्होंने अपने सम्मान को अपने पद से बड़ा माना.

एक दूसरा उदाहरण देखिए. कुछ ही समय पहले की बात है. मेट्रो रेल में एक भारतीय दंपत्ति सीट पर बैठे हुए सफ़र कर रहे थे. स्त्री की गोद में एक शिशु था. कुछ ही देर में मेट्रो में भीड़ हो गई. अतः अब आने वाले नए यात्रियों को खड़े-खड़े ही सफ़र करना पड़ा. इस दंपत्ति के पास ही हैंडिल पकड़े खड़े एक अँगरेज़ ने उस शिशु की ओर स्नेह से देखा और कुछ कहा. अब बात उस स्त्री और खड़े हुए अँगरेज़ के बीच होने लगी. थोड़ी देर में अवसर पाते ही उसका पति बोला, 'तुम जिससे बात कर रही हो, जानती भी हो वह कौन है? यह प्राइम मिनिस्टर डेविड कैमेरोन हैं!' स्त्री को सहसा विश्वास नहीं हुआ. उसने उसी व्यक्ति से पूछा 'क्या आप डेविड कैमेरोन हैं?' उत्तर हाँ में मिला. स्त्री को हैरानी हुई कि प्राइम मिनिस्टर, मेट्रो ट्रेन में, और वह भी खड़े-खड़े सफ़र कर रहे हैं! उसने पूछ ही लिया कि आप मेट्रो में क्यों सफ़र कर रहे हैं? कैमेरोन ने उत्तर दिया कि मुझे गंतव्य पर जल्दी पहुँचना है इसलिए मेट्रो से जा रहा हूँ. अगर कार से जाता तो भीड़ भरे रास्ते में देर लग जाती.

ऐसा है ब्रिटेन का लोकतंत्र! नक़ल करने वाले क्या इसकी नक़ल करेंगे? ■

गर्भनाल
एक क्लिक पर पूरे अंक एक साथ
www.garbhanal.com
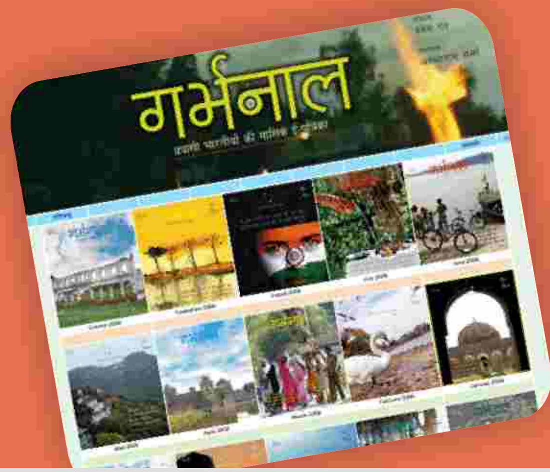

गर्भनाल के पुराने अंक पाएँ
एक साथ एक ही जगह
लॉगऑन करें
www.garbhanal.com
अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :
garbhanal@ymail.com

भूपेन्द्र कुमार दवे

जन्म : २१ जुलाई १९४१. शिक्षा : बी.ई. आनर्स, एफ.आई.ई., कहानी और कविताओं का आकाशवाणी से प्रसारण. प्रकाशित कृतियाँ : ३ खंड काव्य, १ उपन्यास, ५ काव्य संग्रह, २ ग़ज़ल संग्रह, ७ कहानी संग्रह एवं २ लघुकथा संग्रह. मध्यप्रदेश विद्युत मंडल द्वारा कथा सम्मान. त्रिवेणी परिषद द्वारा उषा देवी मित्रा अलंकरण प्राप्त. संप्रति : भूतपूर्व कार्यपालन निदेशक, मध्यप्रदेश विद्युत मंडल.

सम्पर्क : b_k_dave@rediffmail.com

सामयिक

हिन्दी पखवारे की याद में

हमारे देश में साल में मात्र एक पखवारा हिन्दी को अर्पित होता है. बाकी समय अंग्रेजी की बैसाखी के सहारे हमारी जुबान चलती है, गिरती-पड़ती, लड़खड़ाती और वह सब कहने पर उतारू हो जाती है जिसमें अहं की बदबू होती है और झूठी शान बघारने के नखरे होते हैं. हमारी अपनत्व की संस्कृति मन मंदिर के कोने में पत्थर की मूरत बनकर रह जाती है.

यह देख बैठे-बैठे विचार आता है कि हमारे देश की पगडंडियाँ हमें गाँवों के भीतर ले जाती हैं. हम चलते-चलते अपनी धरती पर खिलती प्रकृति की छटा निहारते हैं – सुवासित फूलों की महक पाकर आल्हादित होते हैं – अपनी माटी की खुशबू से आनंदित हो उठते हैं. तब लगता है कि अपनी भाषा भी एक पगडंडी है जो सीधे अपने लोगों के दिलों तक जाती है. दिल से हटकर चलनेवाले लोग संस्कृति से विमुख होकर चलते हैं. वे अंग्रेजी की हवाई उड़ान को बेहतर समझते हैं. वह उड़ान मेट्रो नगरों को जोड़ती नजर तो आती है पर भूल जाती है इस देश की हरियाली से ढँके विस्तृत मैदानों को – लहराते खेत-खलिहानों को – प्रकृति की उस गोद को जहाँ भारतीय संस्कृति अपनी भाषा व बोली में अपनत्व का मधु घोलती आनंदित होती रहती है.

मतलब साधने के लिये किसी भी भाषा का सहारा तो लिया जा सकता है, पर स्वार्थहीन स्नेह की पुष्टि तो अपनी ही भाषा से होती है. तब मेरे अंतः का दार्शनिक अनायास कहने

> *साल में मात्र एक पखवारा हिन्दी को अर्पित होता है. बाकी समय अंग्रेजी की बैसाखी के सहारे हमारी जुबान चलती है, गिरती-पड़ती, लड़खड़ाती और वह सब कहने पर उतारू हो जाती है जिसमें अहं की बदबू होती है और झूठी शान बघारने के नखरे होते हैं.*

लगता है कि अगर गाली ही देना है तो अपनी भाषा में दो ताकि गाली खाकर इस बात का मलाल न हो कि मेरे हृदय ने तुम्हें पूरी तरह खो दिया है. कम से कम भाषा की रेशमी डोर से तो बँधे रहो.

सुवचन की सोचें तो वे हर भाषा में गढ़े जा सकते हैं, पर शब्दों के अर्थ में निहित सुगंध का आनंद तभी मिलता है जब उसमें अपने देश की माटी की सुगंध का पुट होता है – वह सुगंध जिससे हम बचपन से वाकिफ रहे हैं – वह महक जो माँ के आँचल को छूकर चहुँओर बिखरती है – वह खुशबू जो हमारे देश की माटी हमारे शहीदों की याद में बहाये आँसुओं से तर होकर फैलाती है.

लेकिन फूलों की प्राकृतिक महक से अनजाने लोग महंगे बजारू सेंट लगाकर बाग की सैर करना चाहते हैं. सेंट तो वहीं अच्छा लगता है जहाँ बंद कमरों की पार्टियों में शराब व पसीने की बदबू इतराना जानती है या फिर रूम रिफ्रेनर की तरह जहाँ सभ्यता का मरा हुआ चूहा दुर्गंध मार रहा हो या उस आँगन में जहाँ तुलसीचोरे की जगह अंग्रेजी के काँटेदार कैक्टस का गमला रखा हो.

खैर, संतोष है कि हिन्दी की खुशबू की पहचान अब भी बाकी है और हम हिन्दी पखवारे में अपनी सुसंस्कृति की याद दिलाने अपने विचारों को तीर्थयात्रा कराने साल में एक बार निकल तो पड़ते हैं.■

कौशलेन्द्र प्रपन्न

शिक्षा : एमए हिंदी और संस्कृत, हिंदी पत्रकारिता में दो वर्षीय पीजी डिप्लोमा, दिल्ली विश्वविद्यालय से बीएड, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से एमएलआइएस और योग में एक वर्षीय डिप्लोमा. ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली से विभिन्न लाइव एवं साक्षात्कार, परिचर्चा, बजट टॉक आदि प्रसारित. विभिन्न अखबारों में समीक्षाएं, शिक्षा एवं बजट पर विशेष आलेख प्रकाशित. स्कूलों में अध्यापन एवं इक्नामिक टाइम्स में बतौर कॉपी एडिटर कार्य किया. बाल कहानियां लिखने एवं बच्चों के बीच जाकर सुनाने में रुचि.

सम्पर्क : ६/५४, डबल स्टोरी विजय नगर, संत कृपाल आश्रम के पास, दिल्ली. ईमेल : k.prapanna@gmail.com

हिंदी को सप्ताह से आगे ले चला चल

मेरी मां हुआ करती थी. कहते हैं कि उसकी आंखों से टपकते आंसू को देखने वाले साल में एक बार धूल झाड़-पोछकर खड़े हो जाते थे. मां! मां! मां! तू ही है मेरी जन्मदात्री. हमारी स्रोतस्विनी धातृ मातृ शक्ति. तेरी ही छांव में सकून, प्रेमपूर्ण नींद और स्नेह मिला करता था. लेकिन अब तू कोने में बैठी टेंसू बहाती अच्छी नहीं लगती. मां! तू भी अपने आंसू को छुपाना सीख ले. वरना कहने वाले कहेंगे कि कैसी पुराने जमाने की औरत है. रोती है तो पूरा चेहरा विकृत हो जाता है. चेहरे पर ढुलकते आंसुओं से तमाम पार्लरीय सौंदर्य धुल जाते हैं. मां! तू अब बूढ़ी हुई है. हाट-बजरिया, गली-मुहल्ले, स्कूल-कॉलेज में तेरा हाल देख कर आंखें जलने लगती हैं. साल में एक बार हम सभी तेरे हाल पर सामूहिक रुदन-क्रंदन और रुदालीय बर्ताव करते हैं. तू समझ बैठती है कि हमारी आंखों में सच्ची-मुच्ची आंसू हैं. मां तू गफलत में न रहा कर. बाद में पता चलने पर बहुत दुख होगा. कभी वक्त था जब तू प्यारी लगा करती. अब तेरी लुनाई हमें नहीं खींचती. हमें विदेशी मेमें ज्यादा भाती हैं. तू ठहरी गंवई, सीधा पल्ला लेने वाली माथे पर गोल बड़ी टिकुली लगाने वाली.

हिंदी मेरी मां, तेरी मां, कोटि-कोटि जनमानस या कहें प्रवासी भारतीयों की भी महतारी है. कुछ अपनी मां को लेकर विदेश चले गए. अब भी उसे पास रखकर जी रहे हैं. कुछ को मां अब आउटडेटेड सी लगती है. सो उसे पीछे वाले कमरे में अकेला छोड़ दिया है. मां चाहे तो बेटे-बेटी से नहीं मिल सकती. मिलन बेटी-बेटे की मर्जी पर तय है. 'चीफ की दावत' वाली मां हो जाए तो हमारी तो आंखों से आंसू नहीं ख़ून टपकने को बेताब हो जाएं. हिंदी ही मां नहीं, बल्कि मां मां होती है. हरेक ही अपनी मातृभाषा के लिए यानी वह भाषा जो हमारी मां बोला करती है वही भाषा हमारे जेहन में ताउम्र रगों में दौड़ती रहती है. उसे कोई कैसे नजरअंदाज कर सकता है. चाहे गंगा-जमुना या सतलज या फिर वोल्गा के तट पर धूनी रमाए हो या फिर मॉरिशस, हॉलैण्ड, फिजी आदि के खुले पठारों या मैदान में अपना पसीना बहाते हों, उन सबको अपनी मां-सी भाषा से बेइंतेहां मुहब्बत है. 'जो है जहां चुपचाप अपने आप से लड़ता रहे है, संदेश जीवन का यही' नरेश मेहता की इस पंक्ति में बेहद ही गंभीर फल्सफा है. ठीक वैसे ही हम सभी अपनी मां को तमाम विपरीतताओं, विषमताओं कैटरीना, सूनामी से बचाने के लिए जूझ रहे हैं.

बचाना ही है तो अपनी मातृभाषा को बचाना हर व्यक्ति का मौलिक कर्त्तव्य बनता है. जिस भाषायी मां ने हमें पाल पोस कर बड़ा किया. जिस जबान के बल पर दुनिया घूमने, बोलने-बतियाने के काबिल बनाया उसे ही हम गोडाउन में डाल रहे हैं. उसकी सांसें फूल रही हैं. उसे 'इन हेलर' देने की आवश्यकता है. वरना जिस तरह से दुनिया की अन्य मांएं हर पल मर रही है. उसी राह पर हमारी हिंदी मातृशक्ति तो क्या अन्य भारतीय भाषायी मां भी हमसे दूर चली जाएंगी. फिर लाख गुहार, पुकार लगाते रहेंगे पर वो लौटकर नहीं आ पाएंगी. वैश्विक सांस्कृतिक एवं भाषायी संगठनों की चिंता उभारती रिपोर्ट की मानें तो विश्व की कई भाषाएँ मुश्किल दौर से गुजर रही हैं. उसे वक्त रहते लाइफ सपोर्ट नहीं दिया गया तो वो फिर महज़ हमारी यादों में रह जाएगी. बल्कि कुछ समय के बाद वह हमारी अतीत की स्मृतियों की हो जाएगी.

हिंदी, संस्कृत, अरबी, फारसी, लैटिन, जर्मन के साथ ही विश्व की अन्य कई ऐसी भाषाएं हैं जो बस कुछ ही सालों या

दशकों की मेहमान हैं. लेकिन हमारे अंदर उनको बचाने, संरक्षित करने और सवंर्धित करने की न तो कोई मुकम्मल योजना है और न ही सरकारी व गैर सरकारी स्तर की प्रतिबद्धता. ऐसे में किस तरह अपनी मातृ संरक्षण की उम्मीद की जा सकती है. बस अब हम महज आधिकारिक घोषणा के इंतजार में हैं कि लो जी अमुक-अमुक भाषा मां भी मौन हो गई. फलां तारीख को फलां जगह शांति पाठ है आप सभी भाषा प्रेमियों से अनुरोध है कि इस कार्यक्रम में शामिल होकर उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करें.

भाषा क्या मरती है? और अगर मरती ही है तो क्यों मरती है, वो कौन सी स्थितियां हैं जब भाषा अपनी मौत ख़ुद ही मरने लगती है. उसकी मृत्यु की शुरुआत घर से होती है फिर यह एक- एक उन जगहों से मरती चली जाती है जहां उसके औलाद बस इस चीज को याद कर सुना-सुन कर वाह वाही लूटते रहते हैं कि उसकी भाषा कितनी समृद्ध है. उसकी भाषा में सारी भाषा शामिल है. उसी मां से तो फलां फला भाषा चमत्कृत होती है. मगर उस भाषा को कैसे बचा कर रख सकें उसके लिए उनके पास समय नहीं है. इस तरह से हमारी प्रतिबद्धता और भाषा के बीच एक फांक पैदा होनी शुरू हो जाती है. जिसे भरने या कहें पाटने की छटपटाहट महज साल के चंद हफ्तों व दिवस में सुनाई देती है और फिर बाकी पूरे साल कोई ख़ोज़-ख़बर लेने वाला कोई नहीं होता.

आख़िर भाषा मां से मुहब्बत ही क्यों हो जब हमारे पास किसिम किसिम की भाषायी माशूकाएं उपलब्ध हों. यहां अंतर करना जरूरी है. माशूकाओं और मां का स्थान, सम्मान एवं प्यार दोनों ही अलग-अलग धरातल पर खड़ी होती हैं. दोनों की ही अपनी गरिमामयी भूमिकाएं हैं जिसे आपस में फेंट नहीं सकते. कुछ अंतर कुछ सीमांत को तय करना ही होगा. इस लिहाज से भाषा और प्रेमिका दोनों को ही तमाम बलाओं से महफूज रखना एक जिम्मेदार बेटे-बेटी और भरोसेमंद प्रेमी की प्राथमिकता बनती है. इससे कौन इंकार कर सकता है कि व्यक्ति को ताउम्र दोनों की ही जरूरत होती है. बल्कि कहना चाहिए दोनों एक दूसरे से गहरे जुड़ी हुई हैं.

जहां तक भाषा का संक्रमण व्यक्ति के साथ होने की है तो वह एक प्राकृतिक प्रक्रिया के तहत आती है. जहां-जहां व्यक्ति स्थानांतरित होता है उसके साथ उसकी भाषा, संस्कृति, बोली, वाणी और आंतरिक प्रकृति भी संक्रमित होती है. यह कोई मशीनी माइग्रेशन नहीं है कि कुछ फाइलें छूट जाएं या अनडिलिवर रह जाएं. भारत से दूर देश में बसने वाले तमाम हिंदुस्तानियों ने अपने पास की थाती भाषा और संस्कार दोनों को लेकर ही जा बसे. वह मजदूर, शासक, कामगार या बौद्धिक संपदा का संक्रमण ही क्यों न रहा हो सब के सब अपने साथ अपनी गंवई भाषा, संस्कृति एवं संस्कार की पोटली

हम सभी अपनी स्मृतियों में बसे गांव, शहर, गली और लोगों को बड़े होने के बाद भी वैसे ही देखना चाहते हैं, जैसा बरसों पहले छोड़ गये थे. जब वह यथावत् नहीं मिलता तब हमें दुख ही नहीं बल्कि, गहरा धक्का लगता है.

सुदामी की भांति अपने कांख में दबाए चले गए. लोग अपनी मातृभूमि से तो दूर होते गए किंतु जो चीज नहीं छूटी वह है अपने गांव जेवार से लगाव, अपनी पानी-जमीन और पुरखों से असीम लगाव. यही वह डोर है जो न चाहते हुए भी प्रवासी भारतीय कम से कम एक बार ही सही प्रयाण पर जाने से पहले उस जमीन को स्पर्श कर अपनी मां की ऊष्मा और स्नेह को महसूसना चाहते हैं. तस्लीमा नसरीन ने 'फेरा' उपन्यास में बड़ी ही संजीदगी से इस दर्द को उकेरा है. अपनी मातृभूमि बांग्लादेश जाती है. जहां जन्मी पली बढ़ी. वह देखना चाहती है उन तमाम जगहों, पीपल के पेड़, लोगों आदि को जिसमें उसे अपने अतीत का गंध मिल सके. लेकिन लेखिका को निराशा के अलावे कुछ नहीं मिला.

निश्चित ही हमारी भाषा और जीवन मूल्यों में भी काफी तेज़ी से बदलाव का पहिया चला है. उसे पूर्ववत् स्थान पर लाना अब संभव नहीं. आज जिस तरह की समाजो-सांस्कृतिक चुनौतियां समाज एवं व्यक्ति के सामने आ रही है. उसे देखते हुए बदलाव बेहद स्वाभाविक है. भाषायी आवाजाही एक तरह से शुभ माने जा सकते हैं. क्योंकि भाषाएं अंतरसंक्रमण प्रकारांतर से दो विभिन्न संस्कृतियों, मान्यताओं के वर्गों को करीब लाने में मददगार साबित होती हैं. आपसी मेल-जोल हमेशा विकार ही पैदा करे और वह हानिकारक ही हो यह कहना ज्यादती होगी. भाषाएं स्वभावतया मिलनसार और समयानुकूल ख़ुद को ढालने में माहिर मानी जा सकती हैं. इसलिए भाषा सदा सर्वदा जीवंत और सजीव रहती हैं. लेकिन बात ध्यान देने की यह है कि भाषा आकाश में नहीं बल्कि इस धरा पर व्यक्तियों, समूहों, सामाजिकों के द्वारा बनती संवरती और परिवर्ध्दित होती है. उसे खाद-पानी और जीवनी शक्ति भी हमी से मिलती हैं यदि हम अपनी भाषा-बोली से विरक्त हो जाएं तो वह भाषा जयादा दिन तक जीवित नहीं रह सकती.

भाषा को बहता नीर यूं ही नहीं कहा जाता. भाषा की प्रकृति ही है कि वह निरंतर अग्रसारित होती रहे. राह में जो भी जैसी भी परिस्थितियां मिलती हैं उससे तादात्म्य स्थापित करती भाषा नदिया अपनी धार में जीवनदायिनी तत्व प्रवाहित करती रहती है.■

डॉ. मान्धाता सिंह

प्रख्यात पत्रकार एवं इतिहासकार. गाजीपुर के ग्रामीण अंचल में जन्म. बनारस के उदय प्रताप कॉलेज से स्नातक. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम.ए. एवं यहीं से इंडोनेशिया के प्राचीन धर्मशास्त्रों पर पी.एच.डी. की उपाधि. विभिन्न समाचार पत्रों से जुड़े रहे. सम्प्रति - इंडियन एक्सप्रेस के हिंदी दैनिक जनसत्ता के कोलकाता संस्करण में कार्यरत.

सम्पर्क : drmandhata@gmail.com

शिक्षा के विश्वस्तरीय संस्थान किसके लिये?

तकनीकी और प्रबंधन जैसी शिक्षा जिस कदर मंहगी होती जा रही है उसके हिसाब से आम आदमी को कम खर्च में मंहगे संस्थानों की तरह की सुविधा से मुंह मोड़ती अपनी कल्याणकारी सरकारें लगता है कि वैश्वीकरण के आगे बेबश हो गई हैं. तभी तो प्रबंध व तकनीकि संस्थान की पढ़ाई आम आदमी के बच्चों की पहुंच से लगातार दूर होती जा रही है. यही हाल रहा तो यह शिक्षा व्यवस्था ही मैकाले का वह मिशन पूरा करेगी जिसने जिसने अंग्रेजों या भारतीय अंग्रेजों के सामने आम भारतीयों को असहाय व अछूत जैसी श्रेणी में ला खड़ा कर दिया था. क्या भारत की मौजूदा शिक्षा पद्धति पूरी तरह भारतीय हो पाई है? संभवतः पूरी तरह नहीं. ऐसे में सिर्फ धनी वर्ग के लिए ही विश्वस्तरीय संस्थान की वकालत क्यों की जा रही है? अधिकांश सामान्य आय वाले अभिभावक कैसे समझाएं अपने उन बच्चों को जो कैट या दूसरी परीक्षा की तैयारी से लेकर दाखिले का भारी खर्च न ढो पाने की स्थिति में मन मसोस कर कम खर्च वाली पढ़ाई का रास्ता अख्तियार करने को मजबूर होते हैं. ऐसे हजारों छात्र बेहतर इंजीनियर व प्रबंधक बन सकते हैं मगर मंहगी होती पढ़ाई उनकी राह में रोड़ बनती जा रही है.

यह अजब किस्म का विरोधाभास है कि एक तरफ केंद्र या राज्य सरकारों ने गरीब व अक्षम तबके के विकास के लिए आरक्षण की नीति अपनी रखी है तो दूसरी तरफ शिक्षाजगत में मंहगी शिक्षा को बढ़ावा देकर एक बड़ी खाई पैदा कर रही है. स्पष्ट है कि यह मजदूर के बेटे को मजदूर ही बनाकर रखने की साजिश है. यह कौन सा तर्क है कि कम काबिल मगर संपन्न घर का बेटा इंजीनियर, डॉक्टर या प्रबंधक बन सकता है मगर उसके मुकाबले तेज मगर गरीब घर का बेटा इन सुविधाओं से वंचित रह जाए. अपने संविधान में समान अवसर की कानूनी व्यवस्था का यह तो सरासर उल्लंघन है और ताज्जुब है कि संविधान की दुहाई देकर आरक्षण की वकालत करने वाली सरकारें भी शिक्षा को मंहगी होते देख रहे हैं. कल्याणकारी सरकारें आखिर किसका कल्याण करना चाहती हैं? फिलहाल तो यह समझ से परे है. सरकारी स्कूल, जो कि कम खर्च में सभी के लिए समान काबिलियत प्रदर्शित करने का जरिया थे, बेहतर आधुनिकीकरण के अभाव में पिछड़ते जा रहे हैं. निजी स्कूलों को बढ़ावा देने के कारण अब बंद होने की कगार पर हैं. यानी

> शिक्षा के क्षेत्र में समानता काबिलियत की होती तो यह सम्मानजनक होता. विश्वस्तरीय की दुहाई देकर आखिर कब तक गरीब छात्रों को अपमानित किया जाता रहेगा? कुछ छात्रवृत्तियां कितनों का भला कर पाएंगी?

मुद्दा

ऐसी दोहरी शिक्षा व्यवस्था लादी जा रही है जो शिक्षा के लिहाज से समाज का वर्गीकरण कर रही है. चमचमाते निजी स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों के सामने काबिल होने के बावजूद खुद को हीन मानने को मजबूर किए जा रहे हैं गरीब छात्र.

गरीब लोगों की पहुंच से दूर रखने की कवायद में वह सब कुछ हो रहा जो नहीं होना चाहिए. मँहगे होने के इसी क्रम में भारतीय प्रबंध संस्थान कोलकाता (आईआईएम कोलकाता) ने सालाना फीस एक लाख रुपए बढ़ा दी है. इस वृद्धि पर संस्थान के निदेशक का कहना है कि संस्थान के रखरखाव व ढांचागत खर्च में वृद्धि ने फीस बढ़ाने पर मजबूर कर दिया.

> *भारतीय प्रबंध संस्थान जैसे मंहगे संस्थानों के दरवाजे आम छात्रों को खोलने की गरज से पूर्ववर्ती सरकार ने ८० प्रतिशत फीस कम किए जाने की पहल की थी जिस पर कोलकाता समेत बंगलुरू व अहमदाबाद के निदेशक नाराज हो गए थे.*

पहले आईआईएम कोलकाता की सालाना फीस दो लाख थी जो अब बढ़कर तीन लाख सालाना हो जाएगी. ऐसा नहीं कि सिर्फ कोलकाता ने फीस बढ़ाई है भारत के अग्रणी प्रबंध संस्थान अहमदाबाद व बंगलुरू भी फीस बढ़ा चुके हैं. अहमदाबाद ने २.५ लाख से तीन लाख सालाना और बंगलुरू ने २.५ से ३.५ लाख सालाना कर दिया है. हालांकि इस वृद्धि से गरीब छात्रों को उबारने के लिए आईआईएम कोलकाता ने और अधिक मेधावी गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति देने का फैसला किया है. बोर्ड के एक अंतरिम फैसले में तय हुआ है कि अब २५ की जगह ५०-६० छात्रों को छात्रवृत्ति दी जाएगी. इसके अलावा कुछ और छात्रों को मदद की पहल की जाएगी.

मालूम हो कि भारतीय प्रबंध संस्थान जैसे मंहगे संस्थानों के दरवाजे आम छात्रों को खोलने की गरज से पूर्ववर्ती सरकार ने ८० प्रतिशत फीस कम किए जाने की पहल की थी जिस पर कोलकाता समेत बंगलुरू व अहमदाबाद के निदेशक नाराज हो गए थे. काफी खींचतान मची थी जिसमें सरकार ने अनुदान बंद कर देने तक की चेतावनी दे दी थी. यह मामला तब सुलटा जब नई सरकार के मानव संसाधन मंत्री ने उस मुद्दे को वहीं दफनाकर सभी छह भारतीय प्रबंध संस्थानों की फीस में एकरूपता लाने की पहल की. फिर मामला उलझ गया और अंततः यहां भी संस्थानों की मनमानी चली और सरकार को झुकना पड़ा. संस्थानों का कहना है कि अभी भी प्रत्येक छात्र पर १.५ लाख का घाटा संस्थान को सहना पड़ता है जबकि संस्थान के कर्मियों को नए वेतनमान भी देने पड़ेंगे. कुल मिलाकर संस्थान ऐसे किसी रास्ते पर चलने को तैयार नहीं जिससे मेधावी मगर गरीब छात्र भी ऐसे संस्थान में शिक्षा हासिल कर सकें. क्या यह गलत नहीं लगता कि एक ही संस्थान में पढ़ रहे छात्रों में से कुछ को सिर्फ संपन्नता न होने के कारण अनुदान वालों की श्रेणी का करार दिया जाए. शिक्षा के क्षेत्र में समानता काबिलियत की होती तो यह सम्मानजनक होता. विश्वस्तरीय की दुहाई देकर आखिर कब तक गरीब छात्रों को अपमानित किया जाता रहेगा? कुछ छात्रवृत्तियां कितनों का भला कर पाएंगी?

कैलाश शर्मा

आगरा विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर. संघ लोक सेवा आयोग के द्वारा केन्द्रीय सचिवालय सेवा में चयन. १९७० से १९८५ तक संघ लोक सेवा आयोग, नयी दिल्ली में विभिन्न राजपत्रित पदों पर तथा १९८५ से २००८ तक सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक के सतर्कता विभाग में विशेषज्ञ श्रेणी में विभिन्न प्रशासनिक पदों पर कार्य करने के पश्चात सम्प्रति सेवानिवृत और दिल्ली में निवास. ब्लॉग लेखन के अतिरिक्त विभिन्न पत्र पत्रिकाओं एवं काव्य संग्रहों में रचनायें प्रकाशित. वर्ष के श्रेष्ठ बाल कथा लेखन के लिये 'तस्लीम परिकल्पना सम्मान-२०११' से सम्मानित. http://batenkuchhdilkee.blogspot.com

सम्पर्क : kcsharma.sharma@gmail.com

सम्वेदना और सहनशीलता क्यों मर रही हैं?

बचपन से हमें सिखाया जाता रहा है कि संवेदनशीलता और सहनशीलता सफल जीवन के मूल मन्त्र हैं. हमारे सभी प्राचीन ग्रन्थ और सभी धर्म सहनशीलता और सहअस्तित्व का महत्व बताते रहे हैं. लेकिन आज हम जब अपने चारों ओर नज़र डालते हैं तो देखते हैं कि हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक और धार्मिक जीवन में कितने असंवेदनशील और असहिष्णु होते जा रहे हैं.

सड़क पर गाड़ी को ओवर टेक करने के लिये जगह न देने पर दूसरी कार के ड्राईवर से झगड़ा करना और फिर गोली मार देना, दो गाड़ियों का हलके से छू जाने पर भी गाली-गलौज और फिर एक दूसरे पर हथियारों से हमला, ये समाचार आजकल लगभग प्रतिदिन पढ़ने को मिल जाते हैं. कुछ समय पहले एक समाचार पढ़ा था कि एक व्यक्ति की गाड़ी से दूसरे व्यक्ति की गाड़ी को मोड़ते समय कुछ खरोंच लग गयी तो उसने अगले चौराहे पर उस पर गोली चला दी और एक गोली उसके जबड़े में लगी और उसकी हालत चिंताजनक है. दूसरी घटना में एक चालक द्वारा गाड़ी पीछे करते हुए उसकी गाड़ी दूसरी गाड़ी के बम्पर से टकरा गयी और इसके बाद झगड़ा बढ़ने पर एक व्यक्ति ने हवा में गोलियाँ चला दीं. आज से कुछ साल पहले तक सड़क पर गाड़ी चलाते समय दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों के प्रति सहनशीलता और सौहार्द्र का भाव और यातायात नियमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति थी. यह सही है कि आज वाहनों की संख्या बढ़ने से सड़कों पर वाहनों की भीड़ ज्यादा हो गयी है, लेकिन बढ़ती हुई दुर्घटनाओं का केवल यही कारण नहीं है. आज तो बुजुर्ग और शरीफ़ आदमियों को इस तरह की घटनाओं को देख कर दिल्ली में सड़क पर गाड़ी चलाते हुए हर समय एक भय और आशंका बनी रहती है.

सड़क पर अगर दुर्घटना में घायल व्यक्ति तड़प रहा हो तो उसे देखने तमाशबीनों की भीड़ तुरंत लग जाती है. दो पहिया वाहन चालक अपना वाहन एक तरफ रोक कर उसे देखते हैं और कुछ देर में अपने रास्ते चल देते हैं. कारें पास से दौड़ती हुई चली जाती हैं और किसी में यह इंसानियत का भाव पैदा नहीं होता कि रुक कर उसे अस्पताल पहुंचा दें. समय का अभाव, गाड़ी का गंदा हो जाने या पुलिस के चक्करों में पड़ने का डर ऐसे प्रश्न नहीं जिनका ज़वाब एक व्यक्ति की ज़िंदगी से ज्यादा हो. एक घायल व्यक्ति समय पर चिकित्सा न मिलने से

> आज समाज में किसी व्यक्ति का स्थान उसके ज्ञान, चरित्र से नहीं, बल्कि धन और पद के आधार पर मूल्यांकित किया जाता है, चाहे वह उसने किसी भी गलत ढंग से प्राप्त किया हो.

> महानगरों में पड़ौस के व्यक्ति के बारे में जानना तो बहुत बड़ी बात है, पड़ौस में कोई मकान या फ्लैट नंबर किधर पड़ेगा यह तक नहीं बता पाते. सभी एक-दूसरे से अनजान अपनी अपनी दुनिया में जी रहे हैं. किसी को एक-दूसरे के सुख-दुःख का कुछ पता नहीं.

अधिकांशतः सड़क पर दम तोड़ देता है और हमारी संवेदनशीलता भी उसी के साथ मर जाती है.

पहले आस पड़ौस एक बड़े परिवार की तरह माना जाता था. बुजुर्गों की इज्जत और छोटों से स्नेह एक आम बात थी. सभी एक-दूसरे के दुःख-सुख में शामिल होने को सदैव तैयार रहते थे. कितना अच्छा लगता था जब प्रत्येक व्यक्ति को एक रिश्ते से संबोधित किया जाता था. लेकिन आज महानगरों में पड़ौस के व्यक्ति के बारे में जानना तो बहुत बड़ी बात है,

पड़ौस में कोई मकान या फ्लैट नंबर किधर पड़ेगा यह तक नहीं बता पाते. सभी एक-दूसरे से अनजान अपनी अपनी दुनिया में जी रहे हैं. किसी को एक-दूसरे के सुख-दुःख का कुछ पता नहीं. कुछ समय पहले दिल्ली में दो बहनों की महीनों घर में भूखे और बीमार होने पर भी पड़ौस में किसी को कुछ पता न होना हमारी संवेदनहीनता की पराकाष्ठा है. इस प्रेम और सहनशीलता के अभाव में छोटी-छोटी बातों पर झगड़ा होना भी एक आम बात है.

पड़ौस की बात तो बहुत दूर, एक परिवार में भी हम एक-दूसरे की भावनाओं से कितने अनजान हो गये हैं. सभी अपनी ज़िंदगी स्वतंत्र रूप से जीना चाहते हैं जिसमें परिवार के अन्य संबंधों का कोई स्थान नहीं है. आज के परिवार के बुज़ुर्ग आर्थिक रूप से स्वतंत्र होते हुए भी अपने आप को कितना अवांछित, तिरस्कृत और अकेला पाते हैं. उन्हें केवल प्यार और सम्मान की ज़रूरत है और आज की पीढ़ी उन्हें इतना भी देने को तैयार नहीं. जो बुज़ुर्ग आर्थिक रूप से बच्चों पर निर्भर हैं उनके बारे में तो कल्पना करके ही रूह काँप उठती है. पति-पत्नी के संबंधों में असहनशीलता और असंवेदनशीलता उनके बीच बढ़ते हुए तनाव और तलाक का एक प्रमुख कारण बनती जा रही है. हम जितने ज्यादा शिक्षित और समृद्ध होते जा रहे हैं उतने ही अपने संबंधों के प्रति असंवेदनशील और असहिष्णु होते जा रहे हैं.

इस बढ़ती हुई असंवेदनशीलता और असहिष्णुता के अनेक कारण हैं, जिनको हम जानते हुए भी अनजान बन रहे हैं. संयुक्त परिवारों के टूटते जाने के कारण आज हमारे बच्चे नैतिक मूल्यों से वंचित होते जा रहे हैं. बाल दिवस के अवसर पर एक कार्यक्रम देख रहा था जिसमें एक बच्ची से पूछा गया कि उसे कौन सा विषय सबसे खराब लगता है तो उसका ज़वाब था Moral Studies (नैतिक शिक्षा). जिस समाज में बच्चों की शुरू से यह सोच हो, उस समाज के भविष्य का स्वतः अनुमान लगाया जा सकता है. माता-पिता अपने कार्यों में व्यस्त रहने की वजह से बच्चों के चारित्रिक विकास की ओर कोई ध्यान दे नहीं पाते और बच्चे कार्टून और टीवी से जुड़ कर रह जाते हैं.

आज समाज में किसी व्यक्ति का स्थान उसके ज्ञान, चरित्र से नहीं, बल्कि धन और पद के आधार पर मूल्यांकित किया जाता है, चाहे वह उसने किसी भी गलत ढंग से प्राप्त किया हो. नव-धनाढ्यों का क़ानून और नियमों के प्रति अनादर और यह सोच कि पैसे से सब कुछ कराया जा सकता है, राजनीति का गिरता हुआ स्तर और कानून व्यवस्था में उनका बढ़ता हुआ हस्तक्षेप, भ्रष्टाचार और लचर कानून आदि ने दूसरों के अधिकारों के प्रति असहनशीलता और असंवेदन-शीलता को बढ़ावा देने में बहुत बड़ा योगदान दिया है. किसी भी तरह पैसा कमाने की भागदौड़ ने आज व्यक्ति की संवेदनशीलता को कुचल दिया है. आज हम भौतिक सुविधाएँ और धन कमाने के चक्कर में अपनी संस्कृति और संस्कारों को भूलते जा रहे हैं और पता नहीं यह हमारी अगली पीढ़ी और समाज को कहाँ ले जाएगा. ■

महेन्द्र कुमार शर्मा

जन्म २६ दिसंबर १९३७ को अविभक्त पंजाब के जिला होशियारपुर, तहसील ऊना के गांव सनौली में जो अब हिमाचल प्रदेश में आता है. प्रारम्भिक शिक्षा ग्वालियर में, दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए., रेल मंत्रालय (रेलवे बोर्ड), रक्षा मंत्रालय, बैंक ऑफ इंडिया व पंजाब नैशनल बैंक में राजभाषा के कार्यान्वयन से सम्बद्ध रहे. सेवानिवृत्ति के बाद स्वांतः सुखाय रचनाकर्म करते हैं.

सम्पर्क : बी-७७, आनंद विहार, दिल्ली-११००९२ ईमेल : mks1937@gmail.com

मेरे कंधे, उनकी बंदूक

देखने में मैं बहुत कमज़ोर और ढीला-ढाला लगता हूं. जो लोग मुझे नज़दीक से नहीं जानते उन्हें मेरे दुबले-पतले शरीर व झूलते कंधों को देखकर अक्सर भ्रम हो जाता है कि मैं किसी भयंकर रोग से ग्रस्त हूं और कभी भी प्रयाण कर सकता हूं. मेरे नज़दीकी हमेशा से मुझे ऐसा ही देखते-देखते अभ्यस्त हो गए हैं कि जैसे अब तक मेरी गाड़ी खिंचती रही है वैसे ही अभी कुछ और सालों तक खिंचती रहेगी. मेरे अंतरंग जो मेरे शरीर पर हाथ मारकर बात करते हैं अक्सर कहते हैं, "यार, इन कंधों की चूलों को ज़रा कसवा लो, कहीं किसी दिन ज़रा-से झटके से कंधे से झटक कर बांह नीचे न आ गिरे."

ये नादान नहीं जानते कि ढीले-ढाले लगने वाले मेरे ये लटकते-झूलते कंधे कितने सबल हैं और अब तक उफ किए बिना किस-किस की बंदूकों का बोझ ढो चुके हैं. उन बेचारों को यह भी नहीं मालूम कि ईश्वर ने ये कंधे हर तरह की बंदूक का बोझ उठाने के लिए ही कितने इत्मीनान से खास तौर पर डिज़ाइन किए हैं. यह मेरी कोरी शेखी नहीं है, मेरे पास इसके पक्के सबूत मौजूद हैं.

लीजिए, बचपन से ही शुरू करता हूं. मैं चार भाई-बहनों में सबसे छोटा हूं. बचपन में जो बात वे सीधे माताजी-पिताजी से न कह पाते, फुसलाकर मुझसे कहलवा देते. बात

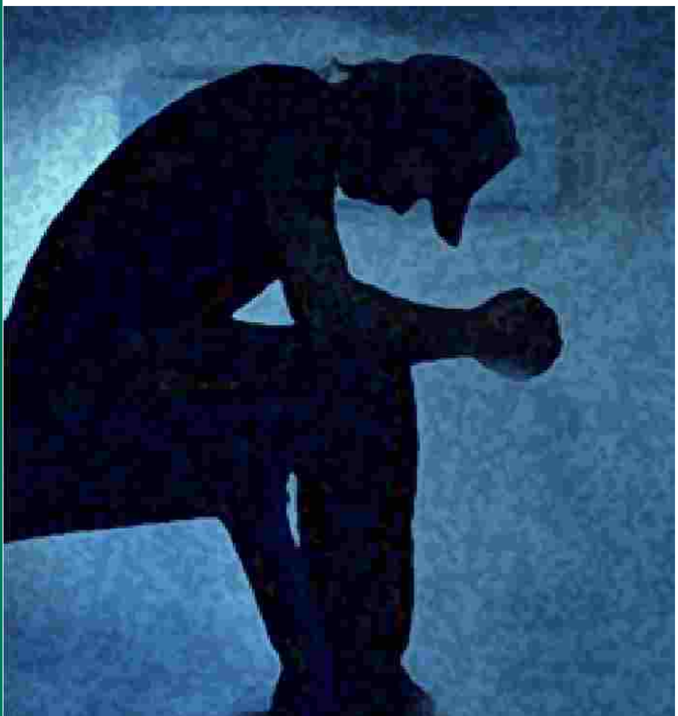

मान ली जाती तो फल वे खा जाते और मैं छिलके-गुठलियां बटोरता रह जाता. दुत्कार पड़ती तो वे किनारे खड़े रहते और फल मैं खाता. स्कूल गया तो वहां भी यह सिलसिला जारी रहा. जो टेढ़ा-मेढ़ा या मुश्किल काम होता सहपाठी मोहरा बनाकर मुझे आगे कर देते और मैं कंधे उचकाकर व छाती फुलाकर, पीछे मुड़कर देखे बिना कि कितने और कौन मेरे पीछे हैं, आग में कूद पड़ता. परिणाम हर बार वही होता और मैं हर बार प्रण करता कि फिर कभी उन्हें अपने कंधों पर हाथ नहीं रखने नहीं दूंगा परन्तु मेरी मूर्खता पर उनकी धूर्तता हमेशा विजयी रहती.

विवाह हुआ तो जल्दी ही मेरे एक कंधे पर पत्नी का और दूसरी कंधे पर मां का कब्ज़ा हो गया. पत्नी का मैंने हाथ थामा था, उसने मेरा कंधा हथिया लिया और मां का सहारा तो

> *"उनके पास बंदूकें थीं, अड्डे नहीं, मेरे पास अड्डा था, बंदूक नहीं. वैसे मुझे बंदूक की कोई ज़रूरत भी नहीं थी, लेकिन उन लोगों को कंधों की बड़ी ज़रूरत थी."*

मेरा कंधा था ही. मेरे एक कंधे से पत्नी गोलियां दागती तो दूसरे कंधे से मां और मैं अपने कंधों के मासूम दिखने वाले उपयोग के लिए न उसे मना कर पाता, न उन्हें. यहां भी मैं हर बार प्रतिज्ञा करता कि अब किसी को अपने कंधे से बंदूक नहीं चलाने दूंगा लेकिन जब समय आता तो मेरे मन व बुद्धि के प्रतिरोध के बावजूद दोनों अपने-अपने अड्डों का मन चाहे ढंग से इस्तेमाल कर लेतीं.

नौकरी में आया तो अनुभवी व अक्लमंदों ने जल्दी ही भांप लिया कि उन्हें जिस चीज़ की तलाश है वह मुझसे बड़ी आसानी से सुलभ हो सकती है. उनके पास बंदूकें थीं, अड्डे नहीं, मेरे पास अड्डा था, बंदूक नहीं. वैसे मुझे बंदूक की कोई ज़रूरत भी नहीं थी, लेकिन उन लोगों को कंधों की बड़ी ज़रूरत थी. मुझे लगा बिना इस्तेमाल के ये कंधे जुड़ जाएंगे,

दर्द करने लगेंगे. कंधों को भी आदत पड़ी हुई थी और थोड़े समय ही निष्क्रिय रहने पर वे कर्म के लिए कसमसाने लगते थे. अपने विभाग में मेरी स्थिति बीच की थी - कुछ मेरे मातहत थे तो कुछ का मैं. इन दोनों के बीच कुछ मेरे बराबर के थे. प्रकृति के नियम के अनुसार इन तीनों ही वर्गों का प्रमुख काम एक-दूसरे की टांग खींचना था और उसके लिए तीनों को ही कंधों की सख्त ज़रूरत थी. दुर्भाग्यवश मेरे पास कुल दो ही कंधे थे. ज़ाहिर है यहां स्थिति कुछ उलझी हुई थी लेकिन कंधों का उपयोग करने वाले बड़े सुलझे हुए थे. वे कोई-न-कोई रास्ता निकाल ही लेते. मेरे दो कंधों से तीन-तीन बंदूकें एकसाथ दगतीं और मुझे तभी पता चलता जब तीनों की गोलियां आपस में टकराकर पलटकर मुझी पर वार करने लगतीं. मेरे कंधों को ज़बरदस्त धक्का लगता लेकिन गोली दागने वाले ही उन्हें सहलाकर फिर से इस्तेमाल के लिए फिट कर देते.

वैसे तो ये सभी इस्तेमाल मेरी पूर्व जानकारी व सहमति के बिना ही होते रहे पर मेरे कंधों ने कभी इसका बुरा नहीं माना और न ही मालूम पड़ने पर कोई मुंह बनाया. वे तो बंदूकों के बोझ से उठे दर्द को भी चुपचाप पीते रहे और कभी मुझसे कोई शिकायत नहीं की. जिसको जब ज़रूरत हुई, उसने बिना पूछे, बिना बताए, उन पर अपनी बंदूक धरकर दाग दी. इससे किसका क्या बना, किसका क्या बिगड़ा, मैंने इस तरफ ज़्यादा ध्यान नहीं दिया, पर कंधों के इस्तेमाल का न तो मुझे कोई लाभ मिला, न कोई श्रेय. बहुतेरी बार मेरा बहुत कुछ बिगड़ा भी लेकिन मैंने कातर दृष्टि से देख लेने या बहुत हुआ तो दांत भींच लेने से अधिक कभी कुछ नहीं किया.

परन्तु कंधों के इस्तेमाल की मेरी यह मामूली व उपेक्षणीय दास्तान है. अहम् और असली दास्तान तो कुछ और ही है और उसी की मेरे जीवन में ही नहीं, पूरे समाज व देश के जीवन में निर्णायक भूमिका रही है. इस दास्तान की दिलचस्प बात यह है कि जहां दूसरे मामलों में लोगों ने चुपचाप मेरे कंधों का इस्तेमाल कर लिया और मुझे कानों-कान खबर भी नहीं हुई, वहीं इस मामले में मैं अपने-आप उचका-उचका कर अपने कंधे बंदूक वालों की बंदूकों के नीचे धरता रहा और वे रस ले-लेकर उनसे अपना शिकार खेलते रहे, रण-धन-यश लूटते रहे व मुझे कोरा बहकाते-बहलाते रहे.

मैं नया-नया जवान हुआ था. अपने कंधों पर बड़ा फख्र था, नाज़ था. नई-नई जवानी का जोश था. मुझे गुमान था कि इस बार की सरकार मुझी पर निर्भर करती है. मैं जिसे अपने कंधों का सहारा दूंगा वही सरकार बनाएगा और वह सरकार मेरे ही कंधों पर चलेगी. जिस दिन मैं अपने कंधे खींच लूंगा, सरकार मुंह के बल नीचे आ गिरेगी. दावेदारों में से कोई देश को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहता था, कोई भुखमरी खत्म करने पर आमादा था, किसी को अशिक्षा को देश-निकाला देना था, कोई देश से बेरोज़गारी समाप्त करना चाहता था, किसी की आंख में गरीबी चुभ रही थी, किसी को अनाज की पैदावार बढ़ानी थी, किसी को नए-नए उद्योग लगाकर देश को आधुनिक युग में लाना था. हरेक का अपना-अपना माल था, अपने-अपने लेबल थे, अपने-अपने रैपर, अपनी-अपनी फेरी थी, अपनी-अपनी हांक, अपने-अपने लटके-झटके थे, अपने-अपने वायदे, अपनी-अपनी गारंटी. मुझे लगा कि ये फेरीवाले मेरे ही मन की बात कह रहे हैं, कर रहे हैं, मेरा ही माल बेच रहे हैं. मैं फूला नहीं समाया और मैंने झट-दीनी अपने कंधे उनके हवाले कर दिए.

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, फेरीवालों की हांक में माल की नई-नई किस्में जुड़ती चली गईं. बैंकों से लेकर तेल, कोयले, चीनी, अनाज, सबके सरकारीकरण की हांक लगी, फिर गरीबी हटाने की अलग-से हांक लगी, फिर भ्रष्टाचार को खत्म करने की, फिर पिछड़ों-दलितों को उठाने की, उठे हुओं को गिराने की, फिर सरकार बदलने की और उसके बाद बदली हुई सरकार को बदलने की और फिर उस बदली हुई को बदलने की और फिर उसको बदलने की और फिर... यही सिलसिला जारी रहा और आज भी बदस्तूर जारी है.

इस माल को बेचने के लिए फेरीवालों को कंधों की ज़रूरत थी. मुझे बराबर लगता रहा कि इस सारे माल के केन्द्र-बिन्दु में मैं ही हूं और यह सारा माल मेरे लिए ही उगाया-बनाया जा रहा है. माल बिकेगा तो उसका नफा मुझे ही मिलेगा - नुक्सान का इसमें कोई सवाल ही नहीं है. फेरीवालों को भी बस ऐसे ही कंधों की ज़रूरत थी और मेरे कंधे उन्हें सहारा देने के लिए कसमसा रहे थे, बेसब्र, बेताब हो रहे थे. वे मेरी गली तक भी नहीं पहुंचे थे कि मैं ही अपने कंधे लेकर उनके पास पहुंच गया. वे ताड़ने में माहिर थे. उन्होंने झटदीनी बंदूक मेरे कंधों पर धर दी. मुझे बड़ा अच्छा लगा, बड़ा सुकून मिला, गर्व से मेरी छाती फूल गई कि मेरे कल्याण, मेरे सुख, मेरी खुशहाली, मेरी खुशी के लिए एकसाथ कितने फरिश्ते चिन्तित हैं, समर्पित हैं, अपना सब-कुछ मुझ पर न्यौछावर करने के लिए आतुर हैं, व्यग्र हैं, बेचैन हैं. ऐसे में मेरा भी कर्तव्य बनता है कि मैं उन्हें अपना सहारा दूं. और मैंने बिना जाने, बिना कुछ सोचे, बिना कुछ समझे, बिना कुछ पूछे, बिना कुछ कहे, बिना किसी शर्त के, बिना किसी अनुबंध के अपने कंधे उनके हवाले कर दिए. वे बार-बार कुछ-न-कुछ नया लेकर आते रहे और मैं बिना पिछला कोई हिसाब-किताब मांगे, नए

> *मुझे गुमान था कि इस बार की सरकार मुझी पर निर्भर करती है. मैं जिसे अपने कंधों का सहारा दूंगा वही सरकार बनाएगा और वह सरकार मेरे ही कंधों पर चलेगी. जिस दिन मैं अपने कंधे खींच लूंगा, सरकार मुंह के बल नीचे आ गिरेगी.*

> *मेरे कंधे थक चुके हैं, टूट चुके हैं, जवाब दे चुके हैं. उनमें कोई और बोझ उठाने की न कोई उमंग है, न कोई जोश, न ही ताकत. पर मैं कुछ कर भी नहीं सकता क्योंकि मेरे कंधे अब मेरे नहीं रहे, वे एकसाथ कइयों के कब्ज़े में हैं.*

सिरे से उन पर भरोसा करके, नए उत्साह से, अपने कंधे उनके आगे करता रहा और वे भी बिना किसी संकोच के, बिना किसी शर्मो-हया के उन पर अपनी बंदूकें रखकर गोलियां दागते रहे.

इस तरह चलते आज ४० वर्ष गुज़र गए हैं. मैं सोचता रहा कि मेरे कंधों का दुहरा इस्तेमाल हो रहा है - एक तो मेरे कंधों पर रखी बंदूक से देश से अशिक्षा, अज्ञान, भुखमरी, गरीबी को मारा जा रहा है और दूसरे प्रकारान्तर से मैं इन अभिशापों की अंत्येष्टि में उनकी अर्थी को कंधा देकर पुण्य कमा रहा हूं. मुझे लगता रहा कि मेरे कंधों के सहारे के बिना इनसे न तो लड़ा जा सकता है और न ही इन्हें मारा जा सकता है. बीच-बीच में मुझे ज़रूर लगता रहा कि मेरे कंधों पर रखी बंदूकों का निशाना तो उस तरफ है ही नहीं जिस तरफ के लिए मैंने उनके इस्तेमाल की स्वीकृति दी है पर हर बार मुझे समझा-बुझा दिया गया कि निशाना तो ठीक दिशा में साधकर ही मारा जा रहा है किन्तु निहित स्वार्थ वाली ताकतें रास्ते में ही उन्हें काटकर उनकी दिशा बदल देती हैं. देश की असली लड़ाई इन्हीं समाज-विरोधी, सम्प्रदायवादी, प्रगति-विरोधी, प्रतिक्रियावादी, विघटनकारी, विध्वंसक ताकतों के विरुद्ध है और उन्हें मेरे समर्थन, मेरे सहयोग, मेरे सहारे, मेरे धैर्य, मेरे त्याग से ही ठिकाने लगाया जा सकता है. मेरे कंधे इस काम में जुटे रहे तो फिर देश के प्रगति-प्रयाण को कोई भी ताकत रोक नहीं पाएगी. मैं फिर-फिर उन पर विश्वास कर लेता, फिर-फिर भरोसा कर लेता.

लेकिन आज मैं देखता हूं कि ४० साल तक मैं जिन-जिन दुर्दांत शक्तियों से लड़ने के लिए अपने कंधे देता आ रहा हूं वे और भी ताकतवर, शक्तिशाली बनकर मन-ही-मन पहले से अधिक भयानक व उग्र रूप में मेरी नादानी, भोलेपन, मूर्खता पर हंस रही हैं, मुझे मुंह चिढ़ाकर पूछ रही हैं, "क्यों, अभी भी खुली नहीं तुम्हारी आंखें? अभी भी आंखों वाले होकर भी अंधे ही बने रहोगे और अपने कंधों का इसी तरह इस्तेमाल होता रहने दोगे? कभी देखा भी कि गोलियां किधर, किस पर चलाई जा रही हैं? हमें तो आज तक एक गोली नहीं लगी. हमने कभी किसी गोली की आवाज़ भी नहीं सुनी."

ये आवाज़ें मुझे दिन-रात बेचैन कर रही हैं. मैं उनकी हंसी, उनके व्यंग्य-बाणों को काट भी नहीं सकता और अपनी नादानी को स्वीकार भी नहीं कर सकता. काटूं या स्वीकार करूं भी कैसे? भीतर से मेरी जो हालत है मैं ही जानता हूं. फेरीवाले मेरे कंधों का सहारा लेकर, तरह-तरह के लुभावने वायदे करके, पक्की गारंटियां देकर कल जो माल बेच रहे थे, वह माल, वो वायदे, वो गारंटियां आज नदारद हैं. फेरियों पर नया दिखने वाला पर असल में वही पुराना माल सजा हुआ है और वैसे ही, वही फेरीवाले उतने ही विश्वास, उतने ही भरोसे, वैसे ही वायदों, वैसी ही गारंटियों और उसी बेशर्माई व ढीठपने के साथ उसे अपना नया माल बताते हुए उसकी हांक लगाते गली-गली घूम रहे हैं. उनके साथ अनगिनत नए फेरीवाले भी मैदान में कूद पड़े हैं. माल उनका भी वही पुराना, बासी, सड़ा-गला, फफूंदी लगा हुआ है, पर उस पर सोने-चांदी के बर्क चढ़े हुए हैं. हांक, वायदे, गारंटी उनकी भी वही है, तौर-तरीके भी वही हैं, फितरत भी वही और नंगपना व निर्लज्जता भी वही.

बिक्री के लिए इन सभी को मेरे कंधों का सहारा चाहिए. मैं कृतसंकल्प था कि इस बार मैं उनके झांसे में नहीं आऊंगा और जिस किसी ने भी मेरे कंधों पर हाथ रखने की कोशिश की, उसके मैं हाथ झटक दूंगा, मरोड़ दूंगा, तोड़ दूंगा. मैं पूरी तरह तैयार होकर उनके आने का इंतज़ार ही करता रहा पर पता चला कि मेरे कंधे तो मेरे पास हैं ही नहीं, उन पर तो पहले से ही उन फेरीवालों का कब्ज़ा है और मैं चाहूं या न चाहूं, वे अपने हिसाब से उनका इस्तेमाल कर ही लेंगे. मेरी मजबूरी, मेरा असहायपन, मेरी विडम्बना इतनी ही नहीं है. कल जो फेरीवाले एक-दूसरे के माल को नकली, निकम्मा, खतरनाक बता रहे थे, उसके खिलाफ गला फाड़-फाड़ कर आवाज़ें लगा रहे थे, एक-दूसरे पर कीचड़ उछाल रहे थे, लांछन लगा रहे थे, मरने-मारने को तैयार रहते थे, आज माथे पर शिकन लाए बिना वे खुद अपने पहले माल को नकली, नुक्सानदेह, घातक बता रहे हैं. पुराने प्रतिद्वंद्वी मिलकर एक हो गए हैं, एक ही तरह का माल बेच रहे हैं, कार्टल बनाकर एक ही तरह की हांक लगा रहे हैं.

मेरे कंधे थक चुके हैं, टूट चुके हैं, जवाब दे चुके हैं. उनमें कोई और बोझ उठाने की न कोई उमंग है, न कोई जोश, न ही ताकत. पर मैं कुछ कर भी नहीं सकता क्योंकि मेरे कंधे अब मेरे नहीं रहे, वे एकसाथ कइयों के कब्ज़े में हैं जो मैं चाहूं या न चाहूं, अपने हिसाब से धड़ल्ले से उनकी खींचतान में लगे हैं. मैं एक बार उन्हीं की बंदूक को अपने हाथों में लेकर चलाना चाहता हूं - फेरीवालों की तरह नहीं, फेरीवालों की तरफ. पर मैं असहाय हूं, बेबस हूं, लाचार हूं. बंदूक मेरे कंधों से उतरती नहीं, हाथों में उसे थामने का शऊर नहीं, ताकत नहीं. और अगर आ भी जाए तो क्या? निशाना साधने की मुझे ज़रूरत नहीं, पर मैं कितनी गोलियां किस-किस तरफ, किस-किस पर दागूंगा! ■

मधु अरोड़ा

४ जनवरी १९५८ को जन्म. शिक्षा : एम. ए., सामाजिक विषयों पर लेखन, कई लेखकों के साक्षात्कार प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित. रेडियो पर कई परिचर्चाओं में हिस्सेदारी, मंचन से भी जुड़ी हैं. सम्प्रति - एक सरकारी संस्थान में कार्यरत.

संपर्क : एच-१/१०१, रिद्धि गार्डन्स, फिल्म सिटी रोड, मालाड (पूर्व), मुंबई-४०००९७

ईमेल : shagunji435@gmail.com

बातचीत

चर्चित लेखिका चित्रा मुद्‌गल से मधु अरोड़ा की बातचीत

मधु अरोड़ा : आपके लिये स्त्री- विमर्श क्या है ?

चित्रा मुद्‌गल : समाज में स्त्री की जो दोयम दर्जे की स्थिति रही है, समाज में जो उसका तिरस्कार रहा है, समाज में उसकी जो उपेक्षा रही है, समाज में जो उसे एक मानवीय दर्जा मिलना चाहिये था, वह नहीं मिला है. वह 'देवी' और 'भोग्या' के बीच एक पेंडुलम की स्थिति सदियों से जीती रही है. मेरी नज़र में स्त्री-विमर्श का अर्थ है समाज में उस आधी दुनिया के विषय में सोचा जाना जो अपनी साझीदार उपस्थिति से उसे एक संतुलित और मुकम्मल दुनिया का स्वरूप प्रदान करती है लेकिन दुर्भाग्य से उसे अपना सर्वस्व स्वाहा करने के बावजूद वह संतुलित, मुकम्मल दुनिया नसीब नहीं होती. पितृसत्ता द्वारा निर्मित उन अमानवीय स्थितियों के बारे में सोचा जाना, विचार किया जाना और मानवीयता के नाते इस बात का समाज के द्वारा एहसास किया जाना कि अपनी वर्चस्वता कायम करने हेतु आधी दुनिया के साथ मानसिक, दैहिक, व्यावहारिक सभी स्तरों पर व्यभिचार किया है.

पुरुष समाज स्त्री के साथ आखिर ऐसा क्यों करता है ?

दरअसल, पुरुष यह भूल गया है कि स्त्री के सीने में भी एक अदद दिल है, उसके धड़ के ऊपर के हिस्से में एक अदद दिमाग़ है जो किसी भी मायने में पुरुष के दिमाग़ से कम ऊर्जावान नहीं है. ये विसंगतियां, ये मुद्दे हैं जिनके बारे में स्त्री विमर्श के माध्यम से ग़हराई से समाज का विश्लेषण किया जाना चाहिये कि हम उन्नत भारतीय सभ्यता की बात करते हैं जहां अर्धनारीश्वर के जीवन दर्शन की महत्ता रही है. स्त्री दुर्गा, शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है- इसी शक्ति के पत्नी बनने के बाद बात-बात में चुप रहने के लिये बाध्य किया जाता है, आखिर क्यों यौन संबंधों में भी उसे गैऱ बराबरी का दर्जा दिया जाता है. तो मधु, स्त्री के संदर्भ में स्त्री-विमर्श के मायने है प्रतिरोध का वह स्वर है जो उसके सामाजिक उत्पीड़न को लेकर बहुत पहले उठाया जाना चाहिये था.

आपको ऐसा लगता है कि गत कुछ वर्षों से स्त्री-विमर्श का मुद्दा ज्यादा चर्चा में है ?

पिछले डेढ़ दशक पहले से मुख्य रूप से उसे उठाया जाने लगा है और मधु, प्रतिरोध के इस स्वर को साहित्य ने भी अपना मुख्य मुद्दा बनाया है- दलित विमर्श के ही समकक्ष, क्योंकि इस विषय पर अनिवार्यतः यह महसूस किया गया कि स्त्री-विमर्श को साहित्य में भी आंदोलनात्मक धरातल पर भी अपने मोर्चे खोलने होंगे और वे मोर्चे खोले गये. सत्तर के दशक के उत्तरार्ध में हम यह पाते हैं कि वह मोर्चा अपनी सन्नद्ध मुद्रा में कई कृतियों में मुखर होता है. जाहिर है पितृसत्ता को स्वयं को सत्ताधीशी के मद से उबारना होगा. स्त्री को स्पेस देना ही होगा. हालांकि मुझे ऐसी परस्परता का प्रतिशत २१वीं सदी में भी बहुत उत्साहवर्धक महसूस नहीं हो रहा है. फिर भी परिवर्तन आ रहा है और स्वयं स्वावलंबित और शिक्षित स्त्री भी इस दिशा में सचेष्ट है कि वह अपने पुरुष को एक संतुलित और विवेकशील परस्परता की तरफ मोड़ सके.

जीवन और समाज में स्त्री की भूमिका अहम् है. रचनात्मक भूमिका के बावजूद स्त्री उपेक्षित क्यों है ?

स्त्री की रचनात्मकता की क़द्र तो तब होगी जब पुरुष अपने अहम् को त्यागेगा. वह अपने पितृसत्तात्मकता अहम् यानी कि 'मैं चलानेवाला हूं. यह घर ही नहीं, यह समाज ही नहीं, यह देश ही नहीं, बल्कि यह राष्ट्र भी.' जहां इस तरह

चित्रा मुद्‌गल

१० दिसम्बर १९४४ को चैन्नई में जन्म. मुख्य कृतियाँ : उपन्यास- एक जमीन अपनी, आवां, गिलिगंडु. कहानी संग्रह- जहर ठहरा हुआ, लाक्षागृह, अपनी वापसी, इस हमाम में, ग्यारह लंबी कहानियाँ, जिनावर, लपटें, जगदंबा बाबू गांव आ रहे हैं, मामला आगे बढेगा अभी, केंचुल, आदि-अनादि. सम्मान : व्यास सम्मान, इन्दु शर्मा कथा सम्मान, साहित्य भूषण, वीरसिंह देव सम्मान.

संपर्क : बी. १०५, वर्धमान अपार्टमेंटस, मयूर विहार फेज १, दिल्ली-११००९१ फोन : ९१-९८७३१२३२३७.

ई-मेल : mail@chitramudgal.info

> नैतिकता का विवेक मनुष्य के भीतर मानवीय संवेदनाओं के क्षरण को रोकता है. लिव-इन-रिलेशनशिप मल्टीनेशनल्स का फंडा है. यह मल्टीनेशनल्स बगीचों का, भूमंडलीकरण का, बाजारवाद का दबाव है और यह उसकी वजह है.

का भाव होगा कि हर चीज़ चलाने का आधार पुरुष के पास है तो वह स्त्री की रचनात्मकता को कहां जगह देगा? यही तुम साहित्य में दिखता है. हमारे आलोचकों ने स्त्री-लेखन को जनाना लेखन कहकर बहुत बार मज़ाक उड़ाया है. मैं तो कहती हूं कि उनकी क़ूवत ही नहीं है स्त्री लेखन को पहचानने की. आधी दुनिया अपनी सर्जना के माध्यम से लिख रही है, अपने अंतर्मन की तलछटों को जो अभिव्यक्त कर रही है, वह उस पूरे समाज का ही तो आधा हिस्सा है, वह पहिया है जो अपनी कील से उखड़ चुकने के बाद गाड़ी की गति के साथ घिसट रहा है और उस 'घिसटन' का कोई इलाज़ करने के बजाय उसे निकाल कर हाशिये पर फेंक कर नया पहिया जड़ लेने के अहंकार से भरा है.

अभी हाल ही में अदालत ने 'लिव-इन-रिलेशनशिप' पर फैसला दिया. इस पर आप क्या सोचती हैं?

मुझे लगता है कि इस दिशा में जिस प्रकार की क़ानूनी पहल हुई है उसमें एक प्रकार की उतावलीभरी ज़ल्दबाजी नज़र आती है. बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन के साथ शायद यह महसूस किया जाने लगा था कि पैकेज डील की अविश्वसनीय किस्म की लंबी-चौड़ी तनख्वाहों के चलते पिछड़े प्रदेशों के बेटी की कैरियर ओरियन्टेड शिक्षा की ओर ध्यान देनेवाले माता-पिता उन्हें सायबर सिटियों में भेजने से परहेज़ नहीं करेंगे और होगा यह कि साथ काम करनेवाले युवक-युवतियों के बीच आपसी संबंध खुली जीवनशैली के चलते इस सीमा तक प्रगाढ़ हो सकते हैं कि वे 'लिव-इन-रिलेशनशिप' में प्रवेश कर साथ-साथ रहने का निश्चय कर सकते हैं और ऐसा हुआ भी और हो रहा है और इसी के चलते लड़कियों के मानसिक और दैहिक शोषण के विषय में निर्णय लिया गया और कोर्ट का फैसला आया. अब रही बात विदेशों में लिव-इन-रिलेशनशिप की, तो वहां तो इसकी कोई सीमा ही नहीं है. यह मल्टीनेशनल्स का फंडा है. लिव-इन-रिलेशनशिप का मतलब है कि स्त्री-पुरूष गंधर्व विवाह करके अपने आपकी मरजी से रहें.

आपको लगता है कि यह विदेशों का षडयंत्र है?

हां, क्योंकि उसके पीछे एक बाज़ारीय सोच काम कर रही है. हो यह रहा है कि पितृसत्ता की भोगवादी प्रवृत्ति को अनजाने ही एक उछाल मिला है. बिन ब्याहे युवक-युवतियों की बात तो और है, घर से दूर रहनेवाले पुरुष या अपने ही शहर में रहनेवाले शादीशुदा पुरुष भी इस फैसले से फ़ायदा उठाने से नहीं चूक रहे हैं. इसका एक बहुत ही ज्वलंत उदाहरण बहुत बरस पहले गुजरात में मैत्री करार के रूप में देख चुके हैं. मैत्री करार के लागू होते ही हज़ारों महिलाओं ने अपने पत्नीत्व के हितों की रक्षा के लिये कोर्ट में दावा दायर कर दिया कि उनका पति शहर में नौकरी करते हुए किसी अन्य स्त्री के साथ बरसों से रह रहा है और मैत्रेयी करार के अंतर्गत कानून साथ रहनेवाली स्त्री के बच्चे को पति की संपत्ति में हक़दार मानता है और उन्हें क़ानूनी मान्यता प्रदान करता है. शादीशुदा स्त्री के पत्नीत्व के अधिकारों और बच्चों के हक़ पर तुषारापात करते हुए उन पत्नियों का मानना था कि पुरुष के दोनों हाथों में लड्डू हैं. हारकर गुजरात सरकार को मैत्रेयी करार को रद्द करना पड़ा. कमोबेश यही स्थितियां 'लिव-इन-रिलेशनशिप' को कानूनी संरक्षण देने से उत्पन्न हो सकती हैं. दरअसल 'लिव-इन-रिलेशनशिप' रद्द किये गये मैत्री करार की तरह विवाह संस्था की सुदृढता को चुनौती दे रहा है. बदलती हुई परिस्थितियों के साथ यदि ज़रूरत का वास्ता देकर हम यूं ही बदलते रहेंगे तो वह दिन दूर नहीं है जब हमारे समाज में सांस्कृतिक मूल्य, नैतिकताएं और मान्यताएं ढहती हुई नज़र आयेंगी जिनकी वजह से वैश्विक संस्कृतियों में हमारी विशिष्ट पहचान है. नैतिकता का विवेक मनुष्य के भीतर मानवीय संवेदनाओं के क्षरण को रोकता है. लिव-इन-रिलेशनशिप मल्टीनेशनल्स का फंडा है. यह मल्टीनेशनल्स बगीचों का, भूमंडलीकरण का, बाजारवाद का दबाव है और यह उसकी वजह है.

आज का युवा-वर्ग साहित्य से दूर होता जा रहा है, इसके लिये आप किसे दोषी मानती हैं?

इसके लिये हमारी जो शिक्षा नीतियां हैं, मैं उनको दोष देती हूं. साथ ही पारिवारिक वातावरण को भी दोष देती हूं. पहले बच्चों को साहित्यिक वातावरण मिलता था जहां वे माता-पिता को पढ़ते देखते थे कि माता-पिता काम करते हुए भी साहित्य पढ़ते थे, पुस्तकें ख़रीदते भी थे. लेकिन आज माता-पिता ने ख़ुद भी वह छोड़ दिया है. उनकी पूरी तवज्जो जो है उसने बच्चों को कैरियर ओरियन्टेड बना दिया है. पहले मां-बाप सोचते थे कि बच्चों के लिये खेलने को भी समय होना चाहिये. हमारे समय में स्कूलों में लायब्रेरी से पुस्तकें इशू करवाना ज़रूरी था. प्रार्थना के बाद प्रिंसिपल बताते थे कि पाठ्यक्रम में जो लेखक हैं, उन पर पुस्तकें लायब्रेरी में उपलब्ध हैं. आज मुझे नहीं लगता कि हिन्दी के अध्यापक स्कूल में पढ़नेवाले बच्चों को इस तरह गाइड करते होंगे या बच्चों को निर्देश देते होंगे.

आपका कहना है कि युवा वर्ग की साहित्य से दूरी की जिम्मेदारी अध्यापकों की वजह से है?

हां, किसी हद तक. अब जब हिन्दी के अध्यापक ही नहीं पढ़ते तो वे बच्चों को कैसे बतायेंगे कि किस उम्र में क्या पढ़ना चाहिये. आज की नई पीढ़ी को चेतन भगत में रुचि है. उसके

लिये वही क्लासिक है. हम यह आरोप नहीं लगा सकते कि नई पीढ़ी में रुचि नहीं है. उनमें रुचि जगाई ही नहीं जाती. दूसरे, पाठ्यक्रम बनाते समय बच्चों का मनोविज्ञान नहीं पकड़ पाते. वे पाठ्यक्रम में ऐसी-ऐसी कहानियां रख देंगे जिनमें बच्चों को कोई दिलचस्पी ही नहीं है. इसने साहित्य का बहुत ही नुकसान किया है. हमने अपने समय में कालिदास, शाकुंतलम ये सारी चीज़ें पढ़ ली थीं. साहित्य का यह संस्कार जानना बहुत ज़रूरी है. भारतीय भाषाओं को वांङ्गमय है, उसकी जो सशक्तता है, बच्चों को उस सशक्तता के बारे में बताइये.

आज की कहानी की बात करें तो क्या आपको लगता है कि आजकल की कहानियों में कथात्मकता ख़त्म हो रही है?

नहीं, आजकल की कहानियों में तो नहीं. लेकिन पूरा समकालीन कथा परिदृश्य जो युवा पीढ़ी का है, उसमें वह कथा पर महत्व देने की बजाय शिल्प को ज्यादा महत्व दे रहा है. उन्हें लगता है कि शिल्प उनकी कथा की कमज़ोरी को अपने प्रभाव में छिपा लेगा. पर पाठक को कथा पढ़ने के बाद उसमें कहानी ही नहीं मिलती. जो कहानी मर्म को नहीं छूती है, तो वह किसी भी तरह पाठक के मन में परिवर्तन नहीं ला सकती. कहानी जब मर्म को छूती है, उसे लेकर पाठक उद्विग्न होता है, कहानी पाठक के साथ चलती है, रात को सोते समय, सुबह उठते समय, घर के काम को निपटाते समय. तब समझो कि उस कहानी ने पाठक को उद्वेलित किया है. अधिकांश लेखक सोचते हैं कि शिल्प के माध्यम से पाठक को चमत्कृत कर दें और पाठक को सोचने को मौका न दें और पाठक पर बौद्धिक विलास थोप दें. कहानी क्या है? कुछ भी तो नहीं. शैल्पिक कौशल के प्रति अतिरिक्त रुझान के चलते युवा पीढ़ी के कई महत्वपूर्ण रचनाकारों की कथा रचनाओं में सर्वथा नवीन दृष्टि से लैस कथा संकेतों के बावजूद़ वह अपने मर्म को छूती नहीं है.

आज के लेखकों में अपने लेखन को लेकर हड़बड़ी है, ज़ल्दी छपने की छटपटाहट है, रातों-रात शोहरत पाने की अदम्य इच्छा है, इस विषय में आप क्या सोचती हैं?

ये विज्ञापन जगत के लेखक हैं. उस युग में जी रहे हैं. उन्हें मालूम है कि प्रचार-प्रसार उन्हें बहुत ज़ल्दी प्रतिष्ठित कर सकता है. हालांकि वे यह नहीं जानते कि प्रचार-प्रसार के बूते प्रतिष्ठित तो हो जायेंगे लेकिन रचना जब मील का पत्थर नहीं है तो वह अपने पाठक नहीं ढूंढ पायेगी. आप आपस में 'मेरी पीठ तू ख़ुजला, तेरी पीठ मैं खुजलाऊं' करेंगे. यह एक असहिष्णुता है. यह लेखकों का जो युवा वर्ग है वह तात्कालिकता में विश्वास रखता है, पर यह सच है कि रचना अपने पाठक ढूंढती है.

लेखकों के लिये यात्राएं ज़रूरी हैं, वह अपने फ्लैट से बाहर निकले, उसे निकलना चाहिये लेकिन अपने अनुभवों में इज़ाफा करने के लिये न कि सिर्फ़ सैर-सपाटे के लिये.

आप जब लेखन करती हैं तो सृजन से पूर्व, सृजन के समय और सृजन के बाद आपकी मनःस्थिति क्या होती है?

जिस चीज़ को लिखने के लिये मेरी उद्विग्नता उसको लिखने से पहले होती है और अग़र अपने मनमाफ़िक़ लिख लिया तब तो ठीक है. पर मैं जब लिखना शुरू करती हूं और लगता है कि वह मेरे हाथ नहीं आ रहा है जो सोचा है तो मैं उसे लिखने का इरादा छोड़ दूंगी. लेकिन जिस वक्त जो सोचा है, उसे अग़र कागज़ पर उतार लिया है तो मुझे बहुत संतुष्टि होती है कि अब मैंने ख़ाका तो उतार लिया है. मैं एक बार में ही नहीं लिख सकती. एक कहानी को कम से कम तीन बार देखना पड़ता है. इसलिये पैंतालिस साल के लेखन में कुल जमा सत्तर कहानियां लिखी होंगी. दरअसल, जो जीवन-मूल्य, जो संघर्ष थे और अब जो नई-नई चीजें आईं तो नई-नई अड़चनें आईं. पहले की कुछ अड़चनें ख़त्म हो रही हैं. तो जो यह संक्रमण काल चल रहा है, जो बाज़ारवाद और वैश्विकतावाद से आया है तो इससे जूझने के लिये लेखकों को सन्नद्ध होना चाहिये. लेकिन ये लोग प्रपंच करते घूम रहे हैं कि यह मेरा ख़ेमा, तेरा ख़ेमा वो, तेरा ख़ेमा वो, तेरा ख़ेमा वो. ये विषमताएं लेखक क्या दूर करेगा जब वह ख़ुद ही ऐसा करता है.

आज प्रायोजित पुरस्कारों, सम्मानों और विदेश यात्राओं की भरमार है, क्या इससे साहित्य लेखन के स्तर में इज़ाफा हुआ है या फिर स्तर में गिरावट आई है?

मेरा मानना है कि यदि पुरस्कारों, सम्मानों में इज़ाफा हुआ है तो यह तो अच्छा है. इनसे अनुभव को विस्तार मिलता है. लेकिन लेख़क दिल्ली से उड़कर लंदन पहुंचे और वहां शाम को शराब की बोतलें खोलकर बैठ गये और उस पर बहस कर रहे हैं तो क्या इज़ाफा होगा, मेरा यह मुद्दा है कि आप वहां को देखिये, अंग्रेज़ों को देखिये, उनके गांवों को जाकर देखिये कि वे कैसे खेती करते हैं, गांवों में कैसे रहते हैं. लंदन के जन-जीवन को देखिये. मैं यह मानती हूं कि लेखकों के लिये यात्राएं ज़रूरी हैं, वह अपने फ्लैट से बाहर निकले, उसे निकलना चाहिये लेकिन अपने अनुभवों में इज़ाफा करने के लिये न कि सिर्फ़ सैर-सपाटे के लिये. ■

राजकिशोर

राजनीति में रुचि थी, लेकिन पत्रकारिता और साहित्य में आ गये. अब फिर राजनीति में लौटना चाहते हैं, लेकिन परंपरागत राजनीति में नहीं. सोचते हैं कि क्या मार्क्स की राजनीति गांधी की शैली में नहीं की जा सकती. एक व्यापक आंदोलन छेड़ने का पक्का इरादा रखते हैं. उसके लिए साथियों की तलाश है. आजकल इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, नई दिल्ली में वरिष्ठ फ़ेलो हैं. साथ-साथ लेखन और पत्रकारिता भी जारी है. रविवार, परिवर्तन और नवभारत टाइम्स में वरिष्ठ सहायक सम्पादक के तौर पर काम किया. कई चर्चित पुस्तकों के लेखक. ताजा कृति : उपन्यास 'तुम्हारा सुख'.

सम्पर्क : ५३, एक्सप्रेस अपार्टमेंटस, मयूर कुंज, दिल्ली-११००९६ ईमेल : truthonly@gmail.com

अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस के मायने

भारत सरकार २ अक्टूबर को अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस के रूप में मान्यता दिलाने में सफल रही, इस पर वे ही खुश हो सकते हैं जो गांधी को ठीक से नहीं जानते. यह सच है कि गांधी जी आखिरी सांस तक यही कहते रहे कि सत्य और अहिंसा, यही मेरे दो मूल मंत्र हैं. लेकिन सत्य को निकाल दीजिए, तो अहिंसा लुंज-पुंज हो कर रह जाएगी. महात्मा और जो कुछ भी थे, लुंज-पुंज नहीं थे. न वे लुंज-पुंज व्यक्ति या बिरादरी को पसंद करते थे. बल्कि उनकी शिकायत ही यही थी कि भारत के लोगों द्वारा हथियार रखने पर पाबंदी लगा कर अंग्रेजों ने इस देश के लोगों को नामर्द बना दिया. मर्द और नामर्द की शब्दावली आज की नारीवादियों को पसंद नहीं आएगी. लेकिन गांधी जी मर्द थे, मर्दवादी नहीं थे. वे तो अपनी संतानों की मां और बाप, दोनों बनना चाहते थे. महात्मा की पौत्री मनु गांधी की एक किताब का नाम है, बापू मेरी मां. इसके बावजूद गांधी जी को मर्दानगी से बहुत लगाव था. जब किसी किस्म की कायरता की निन्दा करनी होती थी, तो वे कहते थे, यह मर्द को शोभा देने वाली बात नहीं है. मर्दानगी से उनका अभिप्राय शायद पौरुष से था और स्त्रियों में भी पौरुष होता है. सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति की बात कही गई है. प्रकृति निश्चेष्ट है और पुरुष में सक्रियता है. जाहिर है, यहां पुरुष में स्त्री भी शामिल है. स्मरणीय है कि महात्मा स्त्रियों को भी तेजस्वी देखना चाहते थे. इतनी तेजस्वी कि जरूरत पड़ने पर वे अपने पति को भी ना कह सकें. फिर भी महात्मा को सत्य का पुजारी नहीं, अहिंसा का पुजारी कहा गया, तो यह बिलकुल अर्थहीन नहीं था. इसके पहले संघर्ष का एक ही अर्थ होता था, हिंसक संघर्ष. भारत की जनता के सामने धनुष-बाण वाले राम की तस्वीर हमेशा मौजूद रही है, जिन्होंने रावण का वध करके सीता को छुड़ाया.

> रामचंद्र शुक्ल जैसे विचारक भी क्षात्र धर्म के दीवाने थे. इसीलिए गांधी के संघर्ष में उनका विश्वास नहीं था. अकबर इलाहाबादी जैसे सयाने कवि ने इस पर विस्मय प्रगट किया था कि लड़ने चले हैं, हाथ में तलवार भी नहीं.

रामचंद्र शुक्ल जैसे विचारक भी इस क्षात्र धर्म के दीवाने थे. इसीलिए गांधी के संघर्ष में उनका विश्वास नहीं था. अकबर इलाहाबादी जैसे सयाने कवि ने इस पर विस्मय प्रगट किया था कि लड़ने चले हैं, हाथ में तलवार भी नहीं. शायद उस समय के और भी बहुत-से लोग ऐसा ही सोचते हों कि क्या सत्याग्रह करने से आजादी मिल सकेगी? लेकिन मिली और कवि गा उठा कि दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल, साबरमती के संत तुमने कर दिया कमाल.

अहिंसा का अर्थ ठीक से नहीं समझने वालों को इस बात का एहसास नहीं है कि यह कमाल दीन-हीन और निरीह

अहिंसा का नहीं, बल्कि साहसी अहिंसा का था. सच तो यह है कि हिंसक की अपेक्षा अहिंसक बनने में अधिक साहस की जरूरत होती है. यह साहस उसी में हो सकता है जो मानता है कि मैं सत्य के रास्ते पर चल रहा हूं. यानी अहिंसक व्यक्ति या समूह में जो ताकत होती है, वह सत्य की होती है. सत्य के बिना अहिंसा आलस्य या कायरता का दूसरा नाम है.

महात्मा को अहिंसा के मुकाबले सत्य अधिक प्रिय था, यह बात अगर आज बार-बार दुहराई नहीं जाती, तो इसके पीछे बौद्धिक चतुराई है. यह निश्चित है कि हिंसा और अहिंसा के बीच चुनाव करना हो, तो गांधीवादी अहिंसा का ही चुनाव करेगा. लेकिन उससे बड़ा सच यह है कि अन्याय सहने और हिंसा के बीच चुनाव करना हो, तो गांधी की पसंद का आदमी वह होगा जो हिंसा को चुनेगा. महात्मा ने किसी पर भी अहिंसा लादना नहीं चाहा, न वे किसी भी कीमत पर अहिंसा की वकालत करते थे. वे यह जरूर मानते थे कि अहिंसा ही मानवता का नियम है और इसी में विश्व का भविष्य है. आंख के बदले आंख का सिद्धांत पूरी दुनिया को अंधा बना देगा. लेकिन हिंसा करने से बचने के लिए अगर कोई गुलामी की जिंदगी जीता रहता है, तो वे मानते थे कि यह नामर्दी है. अन्याय का विरोध करो – अहिंसा से करो तो अच्छा है, पर हिंसा से करो तो वह भी ठीक है बनिस्बत अन्याय को चुपचाप सहने के, महात्मा का मूल मंत्र यह था.

> महात्मा को अहिंसा के मुकाबले सत्य अधिक प्रिय था, यह बात अगर आज बार-बार दुहराई नहीं जाती, तो इसके पीछे बौद्धिक चतुराई है. यह निश्चित है कि हिंसा और अहिंसा के बीच चुनाव करना हो, तो गांधीवादी अहिंसा का ही चुनाव करेगा.

इस मंत्र की मूल बात को ढक कर अगर हम अहिंसा का जाप करने बैठ जाएंगे, तो यह महात्मा के प्रति तो अन्याय होगा ही, उससे ज्यादा अपने प्रति अन्याय होगा. यह और बात है कि हिंसक प्रतिकार लुभावना चाहे जितना हों, पर उससे मिलने वाली सफलता सामयिक होती है और जीवन व्यवस्था को किसी ऊंचाई तक नहीं ले जाती.

अहिंसा वाकई सिंहों का नहीं, बकरों का सिद्धांत है, अगर उसके साथ अन्याय का विरोध नहीं जुड़ा हुआ है. महात्मा के पहले अहिंसा के अधिकांश उदाहरण कायरता के थे. वीर वह था जो युद्ध क्षेत्र में जान देने के लिए तत्पर रहता था. कहा तो यहां तक गया कि बरिस अठारह क्षत्री जीए, आगे जीवन को धिक्कार. बुद्ध और महावीर की अहिंसा में व्यक्तिगत वीरता जरूर थी, पर उसके पीछे सामाजिक न्याय का कोई ताकतवर सिद्धांत नहीं था न उसके लिए संघर्ष का आह्वान था. सिर्फ शिक्षा से ज्यादा बदलाव नहीं आता. बदलाव आता है संघर्ष से. ईसा मसीह की अहिंसा में भी वीरता का तत्व था, लेकिन जहां तक सत्ता और संपत्ति के केंद्रीकरण के विरोध का सवाल था, इसके लिए सिर्फ प्रार्थना थी. महात्मा भी हृदय परिवर्तन में विश्वास करते थे, पर इसके लिए वे अनंत काल तक इंतजार करने को तैयार नहीं थे.

अगर हृदय परिवर्तन की प्रतीक्षा करते रहते, तो 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' के साथ-साथ 'करो या मरो' का नारा नहीं लगाते. इसीलिए जब महात्मा के साथ अहिंसा को जोड़ने का आग्रह बहुत बढ़ जाता है, तो डर लगने लगता है कि कहीं यह अहिंसा को नपुंसक बनाने की तैयारी तो नहीं है?

संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा ने अंतरराष्ट्रीय अहिंसा दिवस का प्रस्ताव मान लिया, तो यह स्वाभाविक ही था. संयुक्त राष्ट्र विश्व की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता, वह राष्ट्रों का प्रतिनिधिक संगठन है. संयुक्त राष्ट्र में भारत का प्रतिनिधित्व कौन करेगा, यह भारत की जनता तय नहीं करती, भारत सरकार तय करती है. भारत सरकार के चरित्र से हम अवगत ही हैं. इसी तरह दुनिया के अन्य देशों के लोग भी अपनी-अपनी सरकार के चरित्र से अवगत होंगे. इस अलग-अलग अनुभव का निचोड़ यह है कि दुनिया की सभी सरकारें हिंसा में विश्वास करती हैं. इराक में जो मानव हत्या हुई और हो रही है, उसके लिए जनता नहीं, सरकारें जिम्मेदार हैं. शस्त्र उद्योग जनता के बल पर नहीं, सरकारों के बल पर फल-फूल रहा है. ऐसा लगता है कि दुनिया के किसी भी देश की सरकार को अहिंसक समाज बनाने की कोई चिंता नहीं है. यही कारण है कि निरस्त्रीकरण का आंदोलन एक दिवास्वप्न बन कर रह गया. अभी तो परमाणु निरस्त्रीकरण जैसी बुनियादी मांग भी दिवास्वप्न ही प्रतीत होती है. ऐसी स्थिति में संयुक्त राज्य के सदस्य राज्य अगर अहिंसा दिवस मनाने को मंजूरी देते हैं, तो कल्पना की जा सकती है कि वे अहिंसक होने की मांग किससे कर रहे हैं. वे राज्यों को

सत्याग्रह वह माध्यम है जिसके बल पर शारीरिक रूप से कमजोर से कमजोर आदमी भी झूठ और अन्याय से लड़ सकता है. मानवता को महात्मा का कोई योगदान है तो यही कि सिर्फ व्यक्ति ही नहीं, समूह भी सत्याग्रह के शक्तिशाली हथियार का इस्तेमाल कर सकते हैं. सत्याग्रह ही अहिंसा की कुंजी है.

अहिंसक बनने का आह्वान नहीं कर रहे हैं, जनता को छागल धर्म की सीख दे रहे हैं. यह सीख किसके गले उतरेगी?

बेशक आज की दुनिया में जितनी हिंसा है, उसका एक बड़ा भाग आतंकवादी हिंसा का है. यह आधुनिक सभ्यता का एक ऐसा राक्षस है जिसे मार गिराने का मंत्र अभी तक खोजा नहीं जा सका है. आज जितने हथियारबंद समूह विश्व भर में काम कर रहे हैं, उतने इसके पहले शायद कभी नहीं थे. स्पष्ट है कि सभ्यता की हिंसकता राज्यों की सीमा पार कर नागरिक जीवन में प्रवेश कर चुकी है और वह भी लगभग उतनी ही भयावहता के साथ. आंकड़े पेश किए जाते हैं कि दूसरे महायुद्ध के बाद आतंकवादी हिंसा से जितने लोगों की मृत्यु हो चुकी है, उससे काफी कम लोग द्वितीय महायुद्ध के दौरान सैनिक आक्रमणों से मारे गए थे. या, जम्मू-कश्मीर और पंजाब में जितनी जिंदगियां आतंकवादी हिंसा से तबाह हुईं, उतनी जिंदगियां तो जापान पर एटमी हमले से भी बरबाद नहीं हुई थीं. इसलिए एक बुनियादी जीवन मूल्य के रूप में अहिंसा पर आग्रह एक जरूरी निर्णय है.

लेकिन इससे यह सवाल खारिज नहीं हो जाता कि अहिंसा का प्रचार करने से क्या नागरिक क्षेत्र की हिंसा खत्म हो जाएगी? बुनियादी सवाल शायद यह है कि हिंसा आती कहां से है. हिंसा के स्रोत अगर हमारी जीवन व्यवस्था में ही बिखरे हुए हैं, यदि उत्पादन का समस्त आधुनिक तंत्र तरह-तरह की हिंसा पर टिका हुआ है, यदि परिवार में हिंसा के बीजों को पनपने दिया जाता है, यदि व्यक्तियों के आपसी संबंधों में अहिंसा नहीं है, तो हिंसा के सघन विस्फोटों से छुटकारा नहीं मिल सकता. व्यक्ति को अहिंसा की शिक्षा तो दी ही जानी चाहिए – घर से ले कर स्कूल-कॉलेज तक में और विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से भी, लेकिन यह शिक्षा तभी फलीभूत हो सकेगी जब व्यवस्था को भी अहिंसा-प्रधान बनाया जाए. भारतीय राज्य कितना हिंसक है, यह हम सभी अपने दैनिक अनुभव से भी जानते हैं. पुलिस से सभ्यता की आशा ही नहीं की जाती. सरकारी कर्मचारी आम आदमी को भेड़-बकरी मानते हैं. नेता लोगों ने लाशों की गिनती करना छोड़ दिया है. ऐसा तंत्र अगर अहिंसा दिवस की घोषणा पर प्रसन्नता या संतोष जाहिर करता है, तो शक होता है कि कहीं यह शासक वर्ग की रणनीति तो नहीं है कि हिंसा का एकाधिकार हमारे पास ही रहने दो – तुम प्रजा हो, तुम्हें हिंसा शोभा नहीं देती!

हमारी समझ से महात्मा का जन्म दिवस मनाने का सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि इसे सत्याग्रह दिवस के रूप में मनाया जाए. हां, अहिंसा में नहीं, सत्याग्रह में ही महात्मा की शक्ति का रहस्य छिपा हुआ है. भारत को स्वाधीनता अहिंसा से नहीं, सत्याग्रह से हासिल हुई थी. लोहिया ने ठीक ही कहा था कि जब तक धरती पर अन्याय है, तब तक हिंसा रहेगी. हिंसा का प्रयोग या तो अन्याय आरोपित करने के लिए किया जाएगा या अन्याय का प्रतिवाद करने के लिए. इन दोनों का विकल्प है, अहिंसक समाज की स्थापना. इसी का दूसरा नाम है, समाजवाद. सत्याग्रह वह माध्यम है जिसके बल पर शारीरिक रूप से कमजोर से कमजोर आदमी भी झूठ और अन्याय से लड़ सकता है. मानवता को महात्मा का कोई योगदान है तो यही कि सिर्फ व्यक्ति ही नहीं, समूह भी सत्याग्रह के शक्तिशाली हथियार का इस्तेमाल कर सकते हैं. सत्याग्रह ही अहिंसा की कुंजी है. झूठ पर टिकी हुई सरकारें जब अहिंसा की पुजारी होने का दावा करती हैं, तो वे अपने को कुछ और हास्यास्पद बना लेती हैं. ■

मनोज कुमार श्रीवास्तव

विचारशील लेखक के तौर पर ख्याति. गद्य एवं पद्य पर समान अधिकार. कविता के संसार से अलग, उनका गद्य विचार जगत की गहराईयों में जाता है. अपनी परम्परा से निरंतर संवाद करता इनका लेखन आधुनिकता के प्रचलित मुहावरों से भी बाहर जाता है. प्रकाशित कृतियां : कविता संग्रह - 'मेरी डायरी से', 'यादों के संदर्भ', 'पशुपति', 'स्वरांकित' और 'कुरान कविताएँ'. 'शिक्षा के संदर्भ और मूल्य', 'पंचशील वंदेमातरम्', 'यथाकाल' और 'पहाड़ी कोरबा' पर पुस्तकें प्रकाशित. 'सुन्दरकांड' के पुनर्पाठ पर छह खण्ड प्रकाशित. दुर्गा सप्तशती पर 'शक्ति प्रसंग' पुस्तक प्रकाशित. सम्प्रति : १९८७ संवर्ग के भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी.

सम्पर्क : shrivastava_manoj@hotmail.com

व्याख्या

अनघं

तुलसी की प्रणति जिस राम के प्रति है वे निष्पाप हैं. तुलसी की विशेषता यह है कि पाप चिन्ता उनकी प्राथमिकताओं और मूलों में नहीं है. शान्तं, शाश्वतं, अप्रमेयं ये विशेषताएं पहले आती हैं, अनघं का विचार उसके बाद. वे पाप से आब्सेस्ड नहीं है. सर स्टुअर्ट विल्सन (१८८९-१९६६) ने कहा था कि इंग्लैंड का चर्च हमें यह समझने पर बाध्य करना चाहता है कि जन्म तो पाप में प्रवेश है, विवाह पाप का एक पक्ष और मृत्यु एक स्वागतयोग्य राहत कि अब हम और पाप नहीं कर सकते. आगस्टस टॉपलेडी ने इसी आधार पर मज़ाक किया था कि हर मानव तीस वर्ष की उम्र तक ६,३०,७२०,००० पाप कर लेता है. तुलसी इतने पाप केन्द्रित नहीं हैं, वे अधिक प्रचलित पाप शब्द का इस्तेमाल न कर उसके एक पर्याय 'अघ' का इस्तेमाल करते हैं. अनघ शब्द का अर्थ निर्दोष, त्रुटिरहित, सुन्दर, खूबसूरत, सुरक्षित, विशुद्ध, कलंकरहित व जिसे चोट न लगी हो, होता है. अनघ से तुलसी का आशय निष्पाप से ही रहा हो, यह ज़रूरी नहीं. देखने की बात यह है कि हमारे यहां निर्दोषता और विशुद्धता में पापहीनता मानी गई. कुछ इसी तर्ज़ पर बच्चन ने कहा : 'पुण्य की है जिसको पहचान/उसे ही पापों का अनुमान/ सदाचारों से जो अनभिज्ञ/दुराचारों से वो अनजान' लेकिन पश्चिम में ज्ञान के उदय के साथ मूल पाप का अहसास प्रबल होता है. हमारे यहां पाप अज्ञान है. वहां पाप ज्ञान. ज्ञान हमारे यहां अघ मर्षण करता है, पापनाशी है. ज्ञान वहां पाप बोध कराता है, ज्ञानोपरांत पाप चेतना से ग्रस्त मनुष्य स्वर्ग से धकेल दिया जाता है. जिनेसिस में ईडन की जो एलीगरी है वह कहीं शायद यह भी बताती है कि ज्ञान के साथ आदमी में नैतिक चेतना (मॉरल सेंस) विकसित होती है. लेकिन नैतिक चेतना आध्यात्मिक चेतना नहीं है. वह द्वैतमूलक है, द्वन्द्वमूलक है. आध्यात्मिक चेतना कदाचित् वह है जिसका इमर्सन ने अधिआत्म ('ओवरसोल') के रूप में अर्थान्वय किया है. वह द्वन्द्वात्मकता तो अविद्या है, ज्ञान इस द्विध्रुवीयता के पार है : करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा. मांडूक्योपनिषद के अनुसार 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'. ईडन में जो ज्ञान का फल चखा गया उसने खंड-चेतना दी. यही खंड चेतना हमारे यहाँ अज्ञान है. वहाँ ज्ञान पृथ्वी पर या सांसारिकता में ठेलता है. हमारे यहाँ कहा गया है कि 'न ज्ञानेन विना मोक्षो'. गीता कहती है : 'अज्ञानमलपूर्णत्वात्/ पुराणो मलिनः स्मृतः/ तत्क्षया-द्वैभवेन्मुक्ति' अर्थात् अज्ञान रूपी मल से पूर्ण होने के कारण यह पुरातन जीव मलिन माना जाता है, उस मल का क्षय होने से ही इसकी मुक्ति हो सकती है. वहां संदेह और जिज्ञासा से ज्ञान मिलता है, हमारे यहां कहते हैं 'श्रद्धावान लभतेज्ञानम्.' एक व्याख्या यों हो सकती है कि पाप ईश्वर से मुकरना (डिपार्चर) है, इस अर्थ में ईडन की कथा भारतीय दर्शन के क़रीब मानी जा सकेगी. यह कि पाप ईश्वर से कटना (severence) है. मोक्ष शिवगीता के अनुसार 'अज्ञान हृदय नाशो मोक्ष इति स्मृति है यानी हृदय की अज्ञान ग्रंथि का नष्ट होना ही मोक्ष कहा जाता है. तब पाप अनाध्यात्मिकता है. लेकिन दिक्कत तब आती है कि जब एक प्रथम पितर (फ़र्स्ट पैरेन्ट्स) के पाप को विरासत योग्य (इनहेरिटेबल) मान लिया जाता है. हमारे यहाँ पाप-पुण्य कर्म से फलित होते हैं. उनकी स्थांतरणीयता (ट्रांसफरेबिलिटी) का इतना व्यापक रूप कहीं नहीं कल्पित है कि आदम-हौवा के मूल पाप को बाद की सारी पीढ़ियाँ ढोती फिरें. वेदव्यास महाभारत के आदिपर्व में इतना अवश्य कहते हैं : पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति/ फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभुक्तमिवोदरे.. कि जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन पेट में जाकर अवश्य दुःख देता है उसी प्रकार पाप अपने लिए अनिष्टकर न प्रतीत होने पर भी बेटे-पोतों तक पहुँचकर अपना प्रभाव दिखाता है. लेकिन बस इतना ही. सभी मनुष्यों की सारी संतति के द्वारा ढोए जाने वाली विरासतन पापग्रस्तता भारत में कल्पित नहीं की गई.

फिर भी अनघं की कल्पना का एक और रूप है जो पश्चिमी चिंतन के ज़्यादा क़रीब पड़ेगा. ईश्वर 'ईविल' का प्रति-विचार (एंटीथीसिस) है, यह बात रेखांकित होती है,

पापी की मुक्ति एक बार संभव है, पाखंडी की नहीं. जो पाप को निरन्तर जस्टिफाई करता है वह ईश्वर के पास सिर्फ़ यही संदेश भेजता है कि मैं अभी अपने कीचड़ और कल्मष में ही मस्त हूँ, मुझे आपकी ज़रूरत नहीं है.

इस अनघं शब्द से. भगवान की पाप के साथ वैसे ही नहीं पटती जैसे प्रकाश की अंधकार के साथ नहीं पटती. किन्तु यहाँ भी भारतीय भिन्नता है. इसैया (५१:१.२) में कहा गया : Your sins have hid his face from you, that he will not hear. टेस्टामेंट के ये शब्द बताते हैं कि तुम्हारे पापों ने उसका चेहरा तुमसे छिपा लिया है, वह नहीं सुनेगा. लेकिन भारत में पाप-बोध ईश्वर के क़रीब ही ले जाता है: 'मत्समा पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि/एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु.' मो समान को पातकी तुम समान रघुबीर. भारतीय भक्त की तो नित्य प्रार्थना ही यह है : पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भवः/त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वपाप हरो भव..

जिनेसिस की एलीगरी की एक व्याख्या यह हो सकती थी कि ईडन के बगीचे में मनुष्य एक जानवराना (एनीमलिस्टिक) हालत में था. पाप-पुण्य के बोध के परे. और ज्ञान से उसमें मानवीय नैतिक चेतना पैदा हुई. लेकिन तब सवाल यह है कि फिर पाप-बोध से वह ईश्वर से दूर कैसे हो गया? पाप की पहचान तो मोक्ष का द्वार है. पाप को पाप की तरह चीन्हना तो हमें मुक्त करता है. हम तो आकाश से गिरें भी तो हमें लगता है कि हम सागर में जा मिलेंगे : आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् . क्या इसका मतलब यह है कि हमारे यहाँ पाप को हल्के में लिया जाता है और पश्चिम में पापों को इतनी गंभीरता से. आज तक मनुष्य उसी आदिम ग्लानि-ग्रंथि से मरा जा रहा है और क्राइस्ट भी हम सबके पापों का बोझ लेकर मरे, लेकिन फिर भी इस आदिम पाप की उजरतें ख़त्म नहीं हुईं.

टेस्टामेंट में पॉल (रोमंस ३:२०) कहते हैं : Herefore no one will be declared righteous in his right by observing the law, rather, through the law we become conscious of sin. भारत का चिंतक यही मानता है कि पाप की पहचान मुक्ति का श्रीगणेश है. इन प्रकट वैचारिक विभिन्नताओं का एक बिन्दु पर फिर मेल होता है जब वे नित्यप्रति कन्फेशन करते हैं और हम कहते हैं 'अपराधसहस्राणि कर्माणि क्रियन्ते अहिर्निशं मयाः. दोनों ही इस तरह से अपना विरेचन (कैथार्सिस) करते हैं. हल्का लेने की बात तो नहीं है, नहीं तो रामायण के सुन्दरकांड में वाल्मीकि यह क्यों कहते : 'अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः.' बात हल्का लेने की नहीं, हल्का होने की है. विरेचन से पाप संज्ञान ईश्वर की उपस्थिति का अनुभव है और यह अनुभव भारहीनता है, यह शून्य है, यह आकाश है. पाप को आवरण में मंडित करना, उस पर कनक का कोट चढ़ाना उसे भारी बनाना है. पाप के प्रसाधन मनुष्य की पाकीज़गी नहीं हैं. ईश्वर तो अलंकृत पापी के भी पाखंड को पहचान लेगा. पापी की मुक्ति एक बार संभव है, पाखंडी की नहीं. जो पाप को निरन्तर जस्टिफाई करता है वह ईश्वर के पास सिर्फ़ यही संदेश भेजता है कि मैं अभी अपने कीचड़ और कल्मष में ही मस्त हूँ, मुझे आपकी ज़रूरत नहीं है. लेकिन जो अपने पाप को पहचान लेता है और उसके प्रायश्चित की ओर उद्यत होता है, ईश्वर भी उन्मुख उसी की ओर होता है. ईश्वर हमसे पाप के श्रृंगार की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह तो पाप के भार को बढ़ाता है. उस शून्य से हम इतने भारी होकर मिलेंगे! सत्य अपने साथ तामझाम लेकर नहीं चलता.

लेकिन तुलसी सिर्फ़ किसी अमूर्त ईश्वर को अनघं नहीं कहते, वे राम को अनघं कहते हैं. क्या अवतारी राम पापमुक्त हो सकते हैं? क्या बालि-वध और शूर्पणखा के नाक-कान काटने की घटनाएँ सुन्दरकांड से पहले की नहीं हैं? तो क्या राम सुन्दरकांड में अनघं कहलाने के अधिकारी हैं? तुलसी का जवाब यह रहा है कि असुरों को मारने से पाप नहीं लगता, क्योंकि वे अपने ही पाप के द्वारा मारे जाते हैं : बिस्व द्रोह रत एखल कामी/निज अघ गयउ कुमारग गामी..

बाइबिल में इस बात की चर्चा आती है कि जीसस ने, जिन्हें प्रभु का अवतार कहा जाता है, भी कुछ ऐसे कर्म किए हैं जो यदि किसी साधारण व्यक्ति ने किए होते तो पापाचारी माना जाता. मसलन (मार्क ५:८.१४ मैथ्यू ८:२८.३४ और ल्यूक ८:२७.३९) जीसस द्वारा दानवों को दो हज़ार सूअरों में स्थानांतरित कर देना जिससे वे सूअर सब भागकर समुद्र में जा कूदे और मर गए, एक किसान के लिए फालतू ही २००० सूअरों के नुक़सान का आर्थिक संकट खड़ा हो गया, अपने दो शिष्यों को गधा और घुरबच्चा चुराने भेजना (मार्क ११:२.४, मैट २१:२.३ और ल्यूक १९:३०.३१) आदि आदि. मैं यहां सबाथ के दिन कटाई करने, बिना हाथ धोए खाना खाने, फेराइसी के साथ गाली-गलौज, पेटू और शराबी होना (मैथ्यू ११:१९ और ल्यूक ७:३४), मंदिरों में व्यापारियों पर आक्रमण करने (मार्क ११:१५, मैट २१:१२.१५, ल्यूक १९:४५.४७ और जॉन) आदि की चर्चा नहीं कर रहा हूँ.

बार्ना रिसर्च ग्रुप ने अमेरिकन वयस्कों से १९९९ में एक फ़ोन सर्वेक्षण किया तो पता लगा कि ४२ऽ वयस्क यह मानते हैं कि पृथ्वी पर जीसस ने भी पाप किए. स्वयं जीसस (ल्यूक १८:१८.१९) से जब पूछा गया कि हे अच्छे स्वामी, मैं अनंत जीवन पाने के लिए क्या करूँ तो उन्होंने उत्तर दिया कि मुझे अच्छा क्यों कहते हो, कोई अच्छा नहीं है, ईश्वर को छोड़कर. बाइबिल (जॉन १:८) में यह भी कहा है : 'यदि हम कहते हैं कि हमने कोई पाप नहीं किया तो हम अपने को छलते हैं और सच हममें नहीं है.' जहाँ तक ईश्वर के पापरहित होने का सवाल है तो जिनेसिस में बताया गया है कि हिंसा, दुष्टता और पापाचार से त्रस्त आकर भगवान ने एक महाप्रलयंकारी बाढ़ पैदा की जिसमें सारी मनुष्य जाति डूब गई जिसमें अबोध नवजात शिशु और बच्चे भी थे. क्या यह ईश्वर का पाप नहीं

> महापुरुषों की कार्यसिद्धि सत्व से होती है, उपकरणों से नहीं. राम का सत्व क्या है. वे कमजोरों को एकता के सूत्र में बांधते हैं. वे ठुकरा दिए गए लोगों के - कहें कि व्यवस्था के विस्थापितों के आश्वासन हैं.

कि ज़िम्मेदार उम्र (एज ऑफ़ अकांउटेबिलिटी) से नीचे के निर्दोषों को उसने मार डाला? जब जीसस ने यहूदियों के लिए ही गॉस्पेल होने और जेन्टाइल्स के लिए न होने (मैथ्यू १५:२२.२८, मार्क ७:२५.३०) का विभेदाचार किया तो वह क्या जाति या राष्ट्रीयता के आधार पर भेदभाव का पाप न था? कैसी विडंबना है कि मात्र यहूदियों के लिए जो गॉस्पेल थी, उसे लेकर धर्म परिवर्तन का रथ-चक्र चल पड़ा, लेकिन जो मनुष्य मात्र के लिए सनातन धर्म था, उसने कन्वरशन कभी नहीं किया. लेकिन प्रभु के अवतार जीसस के निष्पापी होने का विश्वास करने वाले लोग भी बहुत हैं. बाप्टिस्ट सूचना सेवा के अनुसार कर्मणा या वाचा जीसस क्राइस्ट में पाप या त्रुटि का कोई संकेत तक नहीं मिलता. 'ईसाइयत और उदारवाद' (१९२३) नामक पुस्तक के लेखक जे.जी. मैचेन कहते हैं : ""He never in his recorded words deals in any intelligible way with sin in his own life." अपोस्टोलिक ट्रुथ चर्च ने जीसस को सूली पर चढ़ाने का उल्लेख करते हुए कहा : "All this was done to a man who never did anyone any wrong, the only completely sinlessman who ever lived.' अपनी 'स्प्रिंग टू लाइफ़' में डॉन बोएकमैन कहते हैं : जीसस ने कभी कोई पाप नहीं किया. डेल जॉनसन का कहना है : Through his perfectly sinless life, fulfilled the law on behalf of a sinful human race which was unable to keep it. बाइबिल में स्वयं कई स्थानों पर जीसस को निष्पापी कहा गया. इसलिए अवतार होने से पाप के पंक में उतरना ही पड़ेगा, ऐसा नहीं है. अवतार समय में उतरता है, पाप में नहीं.

राम के सुन्दरकांड के पूर्व तक जो दो विवादास्पद कृत्य रहे हैं, उनमें एक कृत्य बालि वध का है और दूसरा शूर्पणखा के अंग भंग का. क्या ये पाप थे? ये कृत्य व्याख्या के फर्क से पाप हो जाते हैं लेकिन व्याख्या के पाप को पाप की व्याख्या मानने की भूल नहीं करना चाहिए. कुछ विद्वान बालि-वध में राम का स्वार्थ देखते हैं. लेकिन यदि राम स्वार्थी होते तो वे सत्तासीन से मैत्री करते या सत्ताहीन से? वे वंचित कर दिए गए व्यक्ति के साथ खड़े होते या उस अत्यन्त शक्तिशाली के साथ खड़े होते जिससे रावण भी युद्ध में परास्त और अमानित हुआ था. सुन्दरकांड में हनुमान बालि से रावण की भिड़ंत की व्यंग्यात्मक याद दिलाकर रावण को चिढ़ाते भी हैं: समर बालि सन करि जसु पावा. तो यदि राम का उद्देश्य रावण के विरुद्ध अपनी स्वार्थसिद्धि का होता तो उसमें उनका तार्किक सहयोगी, उनका नेचुरल अलाई बालि ही होता, सुग्रीव नहीं. उनके लिए बालि प्रस्तुत होता भी सहज और सुलभ. लेकिन राम 'डिस्पज़ेस्ड' को चुनते हैं. राम का बालि से कोई व्यक्तिगत द्वेष नहीं था. लेकिन वंचितों को उनका हक़ दिलाने के लिए कृतसंकल्पित राम के लिए स्वार्थ नहीं, सिद्धांत महत्वपूर्ण था. राम की भगवत्ता और पुरुषार्थ सत्तासीनों का संघ बनाकर प्रतिपक्षी सम्राट से लड़ने में सिद्ध नहीं होनी थी. उनकी खासियत तो 'नृप दल मद गंजा' में है, वे राजाओं के समूह का गर्व चूर्ण करने वाले हैं. वे क्यों नहीं भरत से अयोध्या की सेना बुला लेते ? वे बालि के साधनों से ही नहीं, अपने पितृराज्य की सम्पन्नता से भी विरत रहते हैं. उनकी तथाकथित शरणागति है क्या? वह डिस्पज़ेस्ड की, डिस्एडवांटेज़्ड की मदद है. वह निर्वासित और बेदखल की सहायता है. वे जान-बूझकर यह कठिन रास्ता चुनते हैं. बल्लाल कवि ने भोज प्रबन्ध में शायद उन जैसों के लिए ही लिखा था : 'क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे' यानी महापुरुषों की कार्यसिद्धि सत्व से होती है, उपकरणों से नहीं. राम का सत्व क्या है. वे कमजोरों को एकता के सूत्र में बांधते हैं. वे ठुकरा दिए गए लोगों के - कहें कि व्यवस्था के विस्थापितों के आश्वासन हैं. बालि तो व्यक्तिगत रूप से ही इतना समर्थ था कि राम को रावण से निपटने के लिए एक उसी का साहाय्य ही पर्याप्त था. लेकिन राम एक पद्दलित जनजाति का आत्म-गौरव बहाल करते हैं, एक पूरी जनजाति में स्फूर्ति पैदा करते हैं. किसी व्यक्ति-विशिष्ट की सहायता पाने की जगह वे वनवासियों के वृन्द को साथ लेते है. रावण अपराजेय नहीं था. सहस्रबाहु और बालि उसे हरा चुके थे. राम के लिए कूटनीति की माँग यह होती कि वे बालि को साथ ले लेते. अंगद तो तब भी उन्हें मिलता. लेकिन राम कूटनीति की मांग का उत्तर देने नहीं आए, वे अपने आदर्श की मांग का उत्तर देने आए हैं. इस कारण कूटनीति के शॉर्टकट उन्हें नहीं लुभाते. सुग्रीव को बालि का पदाघात या विभीषण को रावण का पदाघात बंधुत्व की भावना को भूलकर लोगों को पद्दलित करने का रूपक है. ये पद्दलित लोग उस राम को अपना सहारा मानते हैं, जिसके पदस्पर्श से पाषाण में भी चेतना का संचार हो गया था.

राम ने जीवन में उस भूमिका को स्वीकार नहीं किया जो समाज ने उन पर थोपी थी. उन्होंने कैकेयी के वरों में अपनी एक नई पहचान निर्मित करने का अवसर देखा. उन्होंने राजवंश को यह मौका नहीं दिया कि वह उन्हें परिभाषित करे. उन्हें अपने चरित की स्थापना करनी थी. वे वंशगत विरासत को कबूल लेते तो उसके साथ उन सीमाओं को भी ढोते. उन्हें अपना एक 'पर्सोना' खुद रचना था. यदि वे उन सीमाओं को ढोते तो उन सीमाओं की सुविधा और सरलता में उनका न पुरुषार्थ सिद्ध होता, न भगवत्ता. वे जब अयोध्या से बाहर निकले तो वे एक राज्य की सरहदों से ही बाहर नहीं निकले; एक प्रदत्त भूमिका, एक परिनिर्मित व्यक्तित्व की सरहदों से भी बाहर निकले. उन्होंने जब वस्त्र बदले और तपस्वी के गैरिकवल्कल वस्त्र पहने तो उसकी तुलना गांधीजी के उस सायास चयन से की जा सकती है जब उन्होंने बैरिस्टर के सूट, कोट, पैंट, टाई छोड़कर आम भारतीय की लंगोटी धारण कर ली थी. क्या यह कॉस्ट्यूम बदलना मात्र थियेट्रिकल था? विश्व रंगमंच पर राम का यह नाट्य, यदि कोई लीला थी भी तो

इसलिए कि पिछली कतारों के लोग, आखिरी आदमी उनसे आईडेन्टिफाई कर सकें. यह एक तपस्वी का आइकॉन है. रामचरितमानस की कथा बायोग्राफी नहीं है, वह जन-समर्थन को उत्तीर्ण करने के लिए एक राजकुमार द्वारा अपने आप को पुनरान्वेषित करने की कथा है. यह राजतंत्र के बीच जनतंत्र की स्थापना है जहां जन एक मैनीपुलेट किया जा सकने वाला वोट नहीं है बल्कि वह संघर्ष में अपने नायक के साथ-साथ है. चेग्वारा से लेकर आज तक कई जनसंघर्ष गुरिल्ला युद्धों के बीच पनपे हैं. बालि से राम का किंचित् छिपकर युद्ध करना उसी गुरिल्ला युद्ध का रूपक है.

राम ने जिस दिन वनगमन का निर्णय किया, उस दिन से उन्होंने अपने व्यक्तित्व की कमान अपने हाथ में ली. उन्होंने प्रमथ्यु की तरह कोई डिफाएंस नहीं किया बल्कि उस संपूर्ण घटनाक्रम को आज्ञापालन की तरह दर्शाया. हालांकि दशरथ तो उन्हें दूसरी आज्ञा दे चुके थे लेकिन राम ने पालनीय आज्ञा के निर्वाचन का विकल्प अपने पास रखा और अपने व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया का नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया. कभी पिता तो कभी गुरु विश्वामित्र की आज्ञा की छाया में अभी तक चलते आए राम के पास अब वह चयन का क्षण (मोमेंट ऑफ़ च्वॉइस) आकर खड़ा होता है और राम अपना डिस्पज़ेशन चुनते हैं. वे वंचित होते हैं ताकि वंचितों के साथ सहानुभूति कर सकें. उनका पहला स्वचेतन निर्णय तक जब स्वअर्थ का नहीं था तो सुग्रीव से मैत्री कैसे स्वार्थपूर्ण हो सकती थी? जब तक राम के पास सीता की शक्ति थी तब तक उन्हें कभी ओट लेने तक की ज़रूरत नहीं पड़ी, बाद में जनशक्ति साथ आ मिलने से भी वह नौबत कभी न आई, सिर्फ़ बालि के वक़्त ओट ली गई लेकिन आज की कवर फायर के युग में युद्ध की उस स्ट्रेटेजी को समझना अधिक मुश्किल नहीं है. युद्ध के दौरान अब तो नित्य प्रति ही ओट ली जाती है और इस युग में रहते हुए हम राम के एक बार ओट ले लेने पर उनके प्रति कितने मोटिव्ज़ आरोपित कर लेते हैं.

राम में बालि से लड़ने की शक्ति और सामर्थ्य है, यह तो वे सुग्रीव को एक ही बाण से अनेक वृक्षों का छेदन करके बता देते हैं. उनकी ईमानदारी कोई भोंथरा हथियार नहीं है जैसा कि रॉबर्ट ग्रीन ऑनेस्टी के बारे में कहते हैं कि वह एक ब्लंट औजार है. उसमें धार है और बस वही तो है. वृक्षच्छेदन उसी बात का प्रतीक है : 'सारा लोहा उन लोगों का/अपनी केवल धार'. लेकिन गुरिल्ला युद्ध की तकनीक में सफल होकर ही हम वह आत्मविश्वास अर्जित करते हैं कि उसे जन अभियान का रूप दे सकें. वरना जिन पेड़ों को उन्होंने छेद दिया, उन्हीं पेड़ों के पीछे छुपने की क्या जरूरत थी? वह छुपना दिखाई देता है, वह छेदन दिखाई नहीं देता. क्यों राम इस महाबाहुबली व्यक्ति के शक्ति-साम्राज्य को नहीं चुनते? क्यों वे निर्वासित और निष्कासित, खदेड़ दिए गए और विस्थापित लोगों के समुदाय को चुनते हैं? एक व्यक्ति की जगह एक समुदाय को चुनने का अर्थ धर्म की सामुदायिकता की स्थापना में है. मैं धर्म की संस्था नहीं कह रहा हूँ; मैं इसे धर्म के समाज के रूप में देखने को कह रहा हूँ. ईसा ने प्रभु के राज्य की बात की थी. यह प्रभु का समाज है. धर्म को वैयक्तिक मोक्ष के साथ-साथ सामाजिक रूप से भी साथ होना है. यह बुद्ध का संघ नहीं है, यह चर्च भी नहीं है. इस रूपक में ज़ोर सांस्थनिकता पर नहीं है, सामुदायिकता पर है. समस्याएँ ऊपर-ऊपर भी सुलझ सकती हैं लेकिन सामाजिक सहभागिता के बिना वे सिर्फ़ थोपी हुई निर्मितियाँ रह जाएँगी और सशक्तीकरण का कोई अहसास लोगों में पैदा न कर सकेंगी. राम अन्ततः दीपावली की संस्कृति के सूत्रधार बने थे. वे अकेले अपना दीपक लेकर नहीं चलते, वे तो दीप की पंक्ति बनाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उन वनवासियों के भीतर एक विलक्षण आलोक है. उनके देवांश होने का पैराबल यही है कि वे भी अपने भीतर चिंगारी रखते हैं और उन्हीं को एक पंक्ति में बाँधना राम का काम है. यहाँ भी वे उस तरह का विकेन्द्रीकरण नहीं करते हैं कि जिसमें आम आदमी एक पूर्व निश्चित पैकेज का वाहक या कुली बनकर रह जाए. वे उन्हें ज़िम्मेदारियाँ सौंपते हैं और नक़्शा (या नुस्खा) भी नहीं देते. तब जाकर उन लोगों में आत्मशक्ति की चेतना जागृत होती है जिसे जाम्बवान के द्वारा हनुमान को उनकी शक्ति याद दिलाने से इंगित किया गया है.

कांट कहते थे कि अच्छा जीवन जीने की इच्छा रखने वालों को एक साथ आकर एक 'नैतिक राष्ट्रमंडल' (एथिकल कॉमनवेल्थ) बनाना होगा. राम वही करते हैं. लेकिन जैसा कि कांट ने कहा कि यह राष्ट्रमंडल भी सच्चे धर्म की अनुभूति के लिए अपने आप में अपर्याप्त आधार है और उसे इस अतिरिक्त विश्वास की आवश्यकता है कि कोई एक ही सत्ता, कोई एक ही स्रोत, उनके 'नैतिक कमांड्स' के मूल में है, कोई ईश्वर है जो उन सभी को एक साथ निर्देशित कर रहा है. राम और वानरों के समुदाय के प्रसंग में यही सन्देश चरितार्थ होता है. रावण को हराने से राम बड़े नहीं हुए जैसे बालि बड़ा नहीं हुआ, सहस्रबाहु नहीं हुआ. राम तब राम हुए जब उन्होंने वानरों-रीछों का साथ लिया. रावण की पूर्व पराजयों और इस पराजय में यही अंतर है. इसकी सामाजिक सार्थकता स्पष्टतः अधिक है.

"राम ने जिस दिन वनगमन का निर्णय किया, उस दिन से उन्होंने अपने व्यक्तित्व की कमान अपने हाथ में ली. उन्होंने प्रमथ्यु की तरह कोई डिफाएंस नहीं किया बल्कि उस संपूर्ण घटनाक्रम को आज्ञापालन की तरह दर्शाया."

व्याख्या

अब उसके पूर्व हुए एक और विवादास्पद कृत्य की चर्चा कर लें. शूर्पणखा का अंग भंग. उसे भी राम का 'पाप' कहा जाता है. ऐसे कि जैसे शूर्पणखा राम के पास न आई हो, राम स्वयं उसके पास गए हों. आरोप यह है कि जब उसने प्रेम प्रस्ताव किया तो राम उसे शिष्टतापूर्वक मना कर देते, उसे लक्ष्मण को 'रेफर' करने और उसके नाक-कान कटवाने की अत्यन्त उग्र प्रतिक्रिया की क्या ज़रूरत थी? कुछ लोग कहते हैं कि सीता अपहरण और राम युद्ध की नींव यहीं पड़ी. अतुल अजनबी का एक शेर है : बुनियाद साज़िशों में यक़ीनन शरीक थी/वरना फिर ऐसे कैसे ये दीवार गिर गई. आज के फ्री सेक्स के ज़माने में राम की प्रतिक्रिया कुछ-कुछ तालिबानी लगती है. मॉरल सेंसरशिप की अति. लेकिन कुछ चीज़ों पर ध्यान धर लें. सेक्स की स्वच्छन्दता और स्वैराचार जिसका रूपायन शूर्पणखा में होता है, तुलसी के जान-बूझकर किए गए प्रयास की तरह तो नहीं, कविता के अपने दबाव से उस प्रसंग में अंकित हुआ है : मनु माना कछु तुम्हहि निहारी. सेक्स का मनमानापन. राम जो अंतर्यामी हैं क्या शूर्पणखा उन्हें धोखा दे सकेगी? शूर्पणखा निम्फोमैनिआक है, यह तो इसी से स्पष्ट है कि वह 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा' वह दोनों राजकुमारों को देखकर काम से पीड़ित होती है. यह अस्वाभाविक है ही, साथ ही निष्ठा के अभाव का भी परिचायक है. ये दोनों भाई अपनी इंडीविज़ुअलिटी में उसके लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं, उनकी इयत्ता का उसके मन में कोई सम्मान नहीं है. उसे तो अपनी भूख मिटाना है. इसलिए राम यदि लक्ष्मण के पास या लक्ष्मण उसे राम के पास रेफर करते हैं तो वे उसका मज़ाक उड़ाने का आरंभ नहीं करते. यह शुरुआत तो स्वयं शूर्पणखा ने की कि जब वह दोनों को ही देखकर काम-अग्नि से दग्ध हो गई.

तुलसी इसी कारण उसका परिचय 'दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी' के रूप में कराते हैं. बात इस हृदय की ही है. रूप की नहीं. रूप तो शूर्पणखा ने श्रृंगार प्रसाधन की माया से सुन्दर बना ही लिया था. 'रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई.' ईश्वर के पास रूप धरकर जाओगे? ईश्वर रूप का सम्मान करेगा कि हृदय का? ईश्वर के यहां 'धारे हुए' रूप का आई कार्ड नहीं चलता. शहनाज़ हुसैन के ब्यूटी पार्लर वहाँ काम नहीं आते. ईश्वर रूप-सौन्दर्य धारण करने वालों के द्वारा वरा नहीं जाता, वह तो उनके द्वारा वरा जाता है जो 'सुन्दरता कह सुन्दर करई', जो सौन्दर्य को भी सुन्दर करती है. सीता. ईश्वर के सामने यह रूप धारण करना क्या है? सुन्दरता के एक बने-बनाए स्टीरिओटाइप से चलना. प्रभु भक्ति की नींव हृदय में धरें न धरें, फाउंडेशन तो लगाएंगे ही. तो शूर्पणखा ने फेशियल किया, आर्टिफिशियल नेल्स किए. ईश्वर जो सभी रंगों का निर्माता है वह आपका काम्प्लेक्शन देखेगा? कि काम्प्लेक्शन की चिन्ता करने वाली का काम्प्लेक्स या ग्रंथि देखेगा? सौन्दर्य के प्रोडक्ट क्या सुन्दरता के उत्पादक हैं? वे बाज़ार के प्रोडक्ट हैं. शूर्पणखा ने क्या कास्मेटिक सर्जरी करवाई होगी? एंटी रिंकल क्रीम लगवाई होगी? डाई किया होगा? हेयरस्प्रे किया होगा? ये सब वैनिटी प्रयास किए होंगे. यह अंग्रेज़ी का वैनिटी शब्द जितना 'प्रसाधन' अर्थ के लिए सच है, उतना ही उसके दूसरे अर्थ 'अहंकार' के लिए भी. तो अहंकार आ ही गया तत्कालीन मिस वर्ल्ड, मिस यूनिवर्स में. न मो सम नारी. लेकिन वैनिटी (प्रसाधन/अलंकृति) 'वेन' (व्यर्थ) ही होती है.

शूर्पणखा शब्द में 'नखा' है. मदाम को अपने नखों पर/नाखूनों पर भी गर्व होगा. मैनीक्योरिस्ट की सेवाएँ ली होंगी. नकली प्लास्टिक टिप लगाई होगी, उन्हें एक्रिलिक केमिकल से रंगा होगा, उनकी सिल्क रैपिंग की गई होगी, किसी क्रिस्टल जैल से उन्हें आकार दिया होगा, किसी नेल सिरम का इस्तेमाल किया होगा. डायमेंड डस्ट वाला नेल बेस प्रयुक्त हुआ होगा. फिर पूर्णतः आश्वस्त होकर चली होंगी मदाम क्रुएला. चीन में दिसम्बर २००४ में 'कृत्रिम सौन्दर्य' शो हुआ. यह उन स्त्रियों के लिए था जिन्होंने चेहरे या शरीर पर प्लास्टिक सर्जरी करवाई थी. शूर्पणखा भी 'रुचिर रूप धरि' चली. उसका जादू चल भी जाता. लेकिन सामने पड़ गए प्रभु और वैराग्य की प्रतिमूर्ति लक्ष्मण. अपने श्रृंगार दर्प में मोहतरमा बोलीं : 'मनु माना कछु तुम्हहि निहारी.' जिन प्रभु को देखकर सबका मन सम्पूर्णतः केन्द्रित और समर्पित हो जाता है, उन प्रभु पर 'कुछ' का अहसान. अब तुमको देखकर कुछ मन माना है. माने तुम भी मेरे मन की पूरी एकाग्रता के पात्र नहीं हो, लेकिन हाँ, चल जाओगे. शूर्पणखा की भाषा एक्सीडेंटल नहीं है. वह राम के पास संस्कृति के साथ नहीं जा रही, कि वह राम के साथ पाणिग्रहण संस्कार करना चाहती हो, तुलसीदास ने इस पूरे प्रसंग में उसे अपने कौमार्य के बारे में चिन्तित बताया है, न कि विवाह के बारे में 'ताते अब लगि रहिउँ कुमारी'.

इसलिए मैथिलीशरण गुप्त ने जब पंचवटी में यह कहलाया कि 'पाप शान्त हो पाप शान्त हो/कि मैं तो विवाहित हूँ बोले/किन्तु क्या नहीं पुरुष होते हैं/दो-दो दाराओं वाले' तो वे तुलसी के इस घटनाचक्र को भूल गए जहां बात पाणिग्रहण संस्कार की नहीं थी, भोग की थी. संस्कृति की ओर से शूर्पणखा आती तो स्वयं राम को पिता की याद न आती जिनकी चार रानियाँ थीं. शूर्पणखा प्रकृति की ओर से भी नहीं आई क्योंकि एक तो उसने अपने प्राकृतिक और नैसर्गिक रूप को छिपाया, दूसरी बात सिर्फ़ उसकी 'जैविक ज़रूरत' की भी नहीं थी क्योंकि वह तो दोनों राजकुमारों को देखकर कामदग्ध हो गई. वह न संस्कृति की प्रतीक थी, न प्रकृति की. वह सिर्फ़ विकृति की प्रतीक थी कि राम और लक्ष्मण जहां सिक्के की तरह खर्च होते हैं. एक्सचेंज होते हैं. वे वस्तुओं की तरह इंटरचेंजेबल हैं. अपनी विकृत भूख के चलते वह उन्हें पहचान न पाती, कोई बात नहीं थी लेकिन वह प्रभु को पदार्थ में बदल देती है. वे 'डिग्रेडेड ऑब्जेक्ट्स आफ़ एक्सचेंज़' हैं. बात यह नहीं है कि राम उन्हें लक्ष्मण के पास रेफर करते हैं. बात यह है कि वह रेफर होने पर यह आपत्ति नहीं करती कि नहीं,

> *जैसे पूँजीवादी विनिमय व्यवस्थाओं में वस्तुओं का बार्टर है, वैसे ही शूर्पणखा के जीवन-मूल्यों में पुरुष सेक्सुअलिटी भी एक पदार्थ (कमोडिटी) है जिसमें तू नहीं और सही की ही मौजमस्ती नहीं है, बल्कि किसी के भी व्यक्तित्व और इयत्ता का अवधान और आदर नहीं है.*

मेरा तो मन बस तुम पर आया है. वह तो पूरी बेहयाई से दूसरे के पास चली जाती है. जैसे पूँजीवादी विनिमय व्यवस्थाओं में वस्तुओं का बार्टर है, वैसे ही शूर्पणखा के जीवन-मूल्यों में पुरुष सेक्सुअलिटी भी एक पदार्थ (कमोडिटी) है जिसमें तू नहीं और सही की ही मौजमस्ती नहीं है, बल्कि किसी के भी व्यक्तित्व और इयत्ता का अवधान और आदर नहीं है. यह तो सेक्स का एडिक्शन है जो राम-लक्ष्मण को राक्षसी लगता है. एक सज्जन को यह राम का झूठ लगता है जब वे शूर्पणखा को 'अहइ कुआर मोर लघु भ्राता' कहकर लक्ष्मण के पास भेज देते हैं. उनका कहना है कि लक्ष्मण कुँआरे नहीं थे, उनकी उर्मिला से शादी हो चुकी थी. फिर उन्हें कुमार कहने का क्या मतलब? ये सज्जन दो चीज़ें नहीं देखते . एक कि कुमार शब्द का प्रयोग राजकुमार के अर्थों में 'देखि विकल भइ जुगल कुमारा' में हुआ तो 'अहइ कुआर' का अर्थ 'ये राजकुमार' के रूप में भी हो सकता है. दूसरे, स्वयं शूर्पणखा जब विवाहिता होते हुए भी राम से यह साफ़ झूठ बोल देती है :- कि तातें अब लगि रहिउँ कुमारी, तो राम के यह कहने में हर्ज क्या है कि जैसे तुम कुमारी हो, वैसे ये कुमार हैं. फोर्स्ड बैचलर. जो औरत अभी-अभी यह बोल रही कि 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी/यह सँजोग विधि रचा विचारी', वह अब लक्षणम से एक्सचेंज पर तैयार हो गई. ऐसी स्त्री के राक्षसी स्वभाव को क्या राम लक्ष्मण नहीं पहचान गए होंगे. लक्ष्मण ने 'रिपु भगिनी जानी' के बावजूद भी मृदृलता से ही उसे टरकाया. उन्होंने उसे राम का असली परिचय भी दिया. प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा. लेकिन तब भी उस दुर्बुद्धि को समझ में न आया. राम-लक्ष्मण ने कुछ छुपाया नहीं, न उसे भ्रमित किया. हालांकि उसकी परीक्षा लेकर उसके राक्षसत्व की पुष्टि अवश्य कर ली. तब जाकर शूर्पणखा अपनी वाली पर आती है, अपनी असलियत पर, अपनी औक़ात पर. 'रूप भयंकर प्रगटत भई' उसका पाखंड खुल गया. जो ृंगार की स्मोकस्क्रीन थी उसे भेदकर भीतर की कुरूपता सामने आ गई. यही शूर्पणखा जब रावण को अपनी पीड़ा सुनाती है, तो वह रति-दान की अपनी प्रार्थना और प्रयास का उल्लेख अपने भाई से नहीं करती. वह राम-लक्ष्मण को स्त्री पर हाथ उठाने वाले कायर भी नहीं कहती जैसे कि आजकल के कुछ सज्जन लोग कहने लगे हैं. वह उन्हें 'पुरुष सिंघ बन खेलन आए' ही कहती है. अपनी सेक्सुअल अभिप्रेरणाओं का उल्लेख अपने भाई से करने में संकोच हो या अपने प्रति अन्याय को एकतरफा बताने क मंशा हो, वह मूल घटना प्रसंग को गोल कर जाती है. वह राम-लक्ष्मण को 'परम धीर धन्वी गुन नाना, अतुलित बल प्रताप द्वौ भ्राता' ही कहती है. वह आधुनिक आलोचकों की तरह अपने भाई से यह नहीं कहती कि राम ने उसके स्त्रीत्व का अपमान किया है. वह रावण को यह कहकर भड़काती है कि 'सुनि तव भगिनि करहिं परिहासा.' यह बात सिर्फ़ भड़काने की नहीं है कुछ हद तक सच भी है क्योंकि लक्ष्मण स्वयं उससे 'रिपु भगिनी' जानकर ही पेश आते हैं और उसे 'नाक, कान बिनु' करने में एक संदेश भेजते हैं : ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि. रिपु भगिनी अपना दंड अपने दुष्कृत्य से अर्जित करती है लेकिन फिर भी वह प्रसंग एक माध्यम है और मार्शल मैकलुहान के शब्दों में मीडियम इज़ मैसेज तो शूर्पणखा के साथ यह सब करके लक्ष्मण चुनौती पेश कर ही देते हैं : ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन्हि. उसके हाथ मानो रावण को चुनौती दी हो.

शूर्पणखा राम रावण के बीच अकारण नहीं आ गई. अपनी हरकतों से वह माध्यम बनी. उसे सीता पर विशेष डाह रहा कि जिसके रहते राम ने उसे आँख उठाकर भी नहीं देखा बल्कि जब राम बोले भी तो 'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता' के अनुसार सीताजी की ओर देखकर ही बोले. प्रसाधन, अलंकरण और कृत्रिमता 'प्रभु' में इतनी उत्सुकता भी नहीं जगाते हैं कि वे शूर्पणखा को एकबारगी देख भी लें. यह सीता के प्रति

शूर्पणखा राम रावण के बीच अकारण नहीं आ गई. अपनी हरकतों से वह माध्यम बनी. उसे सीता पर विशेष डाह रहा कि जिसके रहते राम ने उसे आँख उठाकर भी नहीं देखा बल्कि जब राम बोले भी तो 'सीतहि चितइ कही प्रभु बाता' के अनुसार सीताजी की ओर देखकर ही बोले.

राम की निष्ठा और अनन्यता तो थी लेकिन इसका स्रोत सीता को समझकर शूर्पणखा ने रावण के मन में यह कहकर उत्सुकता जगाई कि 'रूप रासि विधि नारि सँवारी/रति सत कोटि तासु बलिहारी'. यह शूर्पणखा का बदला लेने का अपना तरीका था. रावण 'हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ' की बात कर शूर्पणखा की लगाई आग में जलना स्वीकार कर लेता है.

इस पूरे प्रसंग में (शूर्पणखा के बदले वाले) राम के नारी अत्याचार वाली थियरी को कहीं स्थान नहीं है. रावण सीता को इसलिए नहीं हरता कि वह शूर्पणखा के अपमान का मूल स्रोत थी बल्कि इसलिए कि वह सौ करोड़ रतियों से ज्यादा सुन्दर थी. रावण कहानी के उतने ही अंश से प्रेरित हो सकता था जितनी उसे सुनाई गई थी. जो उसे बताया ही न गया उसे रावण की प्रेरणा कैसे कहा जा सकता है? आलोचक चाहते हैं कि कलियुग में तो बलात्कार का प्रयास कटुतम रूप से दंडित हो, लेकिन त्रेता में उसे सहा जाना चाहिए क्योंकि वह नारी की ओर से था. रूप भयंकर प्रगट करने और सीता को डराने का आशय क्या था? लक्ष्मण-राम उसे दंडित नहीं करते यदि वह अपने इस भयंकर रूप में आती नहीं क्योंकि उसके पूर्व तो उसे मृदुता से टरकाने की बात चल रही थी. उसके लगातार आग्रह ने लक्ष्मण को उसे प्रकारान्तर से निर्लज्ज कहने की प्रेरणा दी. लेकिन उसे भी वश में करते हुए लक्ष्मण ने इतना ही बोला कि तुम्हें वह चुनेगा जो तृण तोड़कर लज्जा को त्याग देगा. अब शूर्पणखा के अमर्ष का क्षण आया. अब उसके अपनी असलियत में आने का क्षण आया. इसलिए बाद में वह लक्षणम के लाघव का शिकार बनी. अब उसे राम -लक्ष्मण के अस्तित्व का अर्थ भी समझ में आ गया. रावण को वह यही अर्थ बताती है. 'समुझि परी मोहि उन्ह कै करनी/रहित निसाचर करिहहिं धरनी.' वह एक न झुकने वाली प्रतिरोधी सत्ता का उदय उनमें देखती है. राक्षसों के सामने खड़ी एक अदम्य ऊर्जस्वी चुनौती. वह राम को पापी नहीं कहती बल्कि 'खल बध रत' शब्दों द्वारा 'पापियों के बध करने वाले रूप' में उनका वर्णन करती है. इसलिए शूर्पणखा-प्रसंग को शूर्पणखा के पाप की तरह न देखकर राम-लक्ष्मण के पाप की तरह देखना सेक्सुअल परमिसिवनेस की हद है. शूर्पणखा की सी हरकतों को समाज-निर्मात्री हरकतें नहीं कहा जा सकता. यही कारण है कि इस तत्कथित पाप का आरोप भी राम पर चिपकता नहीं. ■

बृजेन्द्र श्रीवास्तव

लेखक-समीक्षक, साहित्य एवं कला, विज्ञान एवं अध्यात्म, ज्योतिष एवं वास्तु, ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्माण्ड विज्ञान जैसे विविध विषयों पर निरंतर लेखन. ५० से अधिक शोध-पत्र विश्वविद्यालयों व राष्ट्रीय संगोष्ठियों में प्रस्तुत. जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर में ज्योतिर्विज्ञान अध्ययनशाला के अतिथि अध्यापक.

सम्पर्क : अपरा ज्योतिषम, २६९, जीवाजी नगर, ठाठीपुर, ग्वालियर-४७४०११

ईमेल - brijshrivastava@rediffmail.com मोबाइल - ९४२५३६०२४३

चिन्तन

विवेक

हमारे सामने अक्सर ऐसी स्थिति बन जाती है जब हम भलाई-बुराई, भ्रम और सच्चाई, उपयोगी अनुपयोगी कर्तव्य और भावना इनको अलग-अलग नहीं कर पाते क्योंकि ये कई बार आपस में इतने गुंथे हुए होते हैं कि हमारी बुद्धि संशय में पड़ जाती है. ऐसी स्थिति में हमारा विवेक ही साथ देता है और हम इन दोनों को अलग-अलग करने में सफल हो जाते हैं और तब बुद्धि के निश्चयात्मक रूप ले लेने से हम सही निर्णय कर लेते हैं.

यह विवेक क्या है? संस्कृत में विवेक के मायने हैं- **'विचिर पृथक भावे विवेचनम्'** अर्थात अलग-अलग कर सकने की योग्यता. जिसे हम कहते हैं- दूध का दूध और पानी का पानी कर देना या नीर क्षीर विवेक वाली बुद्धि. पर विवेक का मतलब दो विकल्प में से एक का चयन करना नहीं क्योंकि विवेक के सामने दो या अधिक विकल्प अलग-अलग नहीं होते बल्कि आपस में इतने उलझे हुए होते हैं कि यह निश्चय ही नहीं हो पाता कि भला क्या है बुरा क्या है. यद्यपि कुछ साधारण बातों में विकल्प स्पष्ट भी होते हैं जैसे आलू बनाए जाएं या बैंगन, पर यहां भी यदि आलू खराब होने वाले हैं तो विवेक आलू बनाने का साथ देगा भले ही आपकी इच्छा बैंगन की ही हो.

यह विवेक, बुद्धि के माध्यम से काम करता है. बुद्धि का काम है किसी भी बात का विश्लेषण करना इसलिए यह सदैव अनिश्चय और निश्चय के बीच बनी रहती है विवेक इसे निश्चयात्मक बनाता है. इसीलिए यदि कोई व्यक्ति बुद्धिमान तो है पर उसमें विवेक की कमी है तो वह सफल नहीं हो सकता, कौन-सी बात कहां कहना या करना है इसका निर्णय विवेक के बिना, बुद्धिमान व्यक्ति कर ही नहीं सकता.

विवेक को शक्ति कहां से मिलती है? विवेक को कैसे बढ़ाया जाये? तुलसीदास कहते हैं- **बिनु सत्संग विवेक न होई.** यहां सत्संग को व्यापक अर्थ में लेंगे- अच्छा वातावरण जो उद्यमशील बनाए उत्साह जगाए रखे, ज्ञान विज्ञान, तर्क सीखने को मिले, अच्छे संस्कार मिलें, सामाजिक हित की बातें सीखने को मिलें. इन सबसे विवेक, विवेचन क्षमता, नीर क्षीर न्याय की योग्यता बढ़ती है.

इसके विपरीत यदि निराशा, घरेलू कलह, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध की भावना, झूठ, चालाकी का वातावरण मिलता है तो विवेक कुंठित हो जाता है, भले बुरे की पहचान जाती रहती है बुद्धि पर पर्दा-सा पड़ा रहता है. परशुराम क्षत्रियों के विरुद्ध क्रोध पाले रखने के कारण ही राम के अवतारी रूप को नहीं पहचान पाए जबकि उनके समकालीन ऋषि व जटायु, शबरी आदि राम को पहचान सके थे.

बड़े असमंजस की स्थिति में विवेक की सहायता से किस प्रकार सही निर्णय हो सकता है इसका उदाहरण चित्रकूट की सभा में देखा जा सकता है जिसमें भरत पर यह जिम्मेदारी आ जाती है कि राम के प्रति प्रेम और रघुकुल रीति से पिता की आज्ञा - इन दोनों में से किसे चुनें क्यों सम्पूर्ण सभा भरत की ओर ही देख रही थी. तब **'निरख विवेक विलोचनन्हि, सिथल सनेह समाज'**, राम प्रेम में दुखी समाज को भरत ने विवेक रूपी नेत्रों से देखा और कर्तव्य को अपने राम प्रेम की भावना से ऊपर रखते हुए वह राम की चरण पादुकाएं ही मांग पाए, राम की वापसी की नहीं कह पाए.

> *ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर विवेक का अर्थ रामानुजाचार्य ने भोजन का विवेक किया है जो स्वच्छता व स्पर्श दोष से शुरू होकर ईमानदारी की कमाई से प्राप्त अन्न तक जाता है क्योंकि शुद्ध अन्न से ही शुद्ध मन बनेगा.*

ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर विवेक का अर्थ रामानुजाचार्य ने भोजन का विवेक किया है जो स्वच्छता व स्पर्श दोष से शुरू होकर ईमानदारी की कमाई से प्राप्त अन्न तक जाता है क्योंकि शुद्ध अन्न से ही शुद्ध मन बनेगा. पर शंकराचार्य ने **विवेक चूड़ामणि** में नित्य अर्थात आत्मा-परमात्मा और अनित्य अर्थात संसार इन दोनों के बीच अन्तर कर पाने की योग्यता- ऐसा अर्थ विवेक का किया है. तुलसी कहते हैं - बिनु विवेक संसार छोर नही पार न पावे कोई.

विवेक इस प्रकार सांसारिक सुख और सफलता तथा आत्मिक उन्नति दोनों में समान उपयोगी है. इसलिए सत्साहित्य सत्संगति से हम विवेकशील बनें.■

प्रभुदयाल मिश्र

ग्राम बर्माडांग, जिला टीकमगढ़ मध्यप्रदेश में जन्म. सागर विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. महर्षि महेश योगी के साथ आध्यात्मिक पुनरुत्थान आन्दोलन के सिलसिले में संपूर्ण भारत यात्रा. मध्य एशिया के तजाकिस्तान और उजवेगिस्तान गणराज्यों में गीता और भारतीय योग पर व्याख्यान. विभिन्न आध्यात्मिक एवं साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध. प्रकाशित कृतियां : सौंदर्यलहरी काव्यानुवाद, सबके लिए गीता, उत्तर पथ, मैत्रेयी, वेद की कविता (वैदिक सूक्तों का काव्यान्तर), वेद की कहानियाँ, तंत्र दृष्टि और सौन्दर्य सृष्टि, योग के सात आध्यात्मिक नियम, ईश्वर का घर है संसार. सम्मान : मध्यप्रदेश संस्कृत अकादेमी द्वारा 'व्यास सम्मान', मध्यप्रदेश लेखक संघ द्वारा 'पुष्कर सम्मान', पेंग्वुन पब्लिशिंग हाउस द्वारा 'भारत एक्सीलेन्सी एवार्ड', वीरेन्द्र केशव साहित्य परिषद् द्वारा 'महाकवि केशव सम्मान'. सम्प्रति : अध्यक्ष, महर्षि अगस्त्य वैदिक संस्थानम्, भोपाल.

सम्पर्क : ३५, ईडन गार्डन, राजा भोज मार्ग, भोपाल म.प्र. ४६२०१६ ईमेलः prabhu.d.mishra@gmail.com, www.vishwatm.com

माता भूमि और पृथिवी-पुत्र

(काव्यान्तर पृथिवी सूक्त)

(अथर्ववेद- कांड १२, सूक्त १, ऋषि-अथर्वा और देवता पृथिवी)

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषियो गा उदानृचुः
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह।३९।

पूर्व में जिस भूमि पर
कृत कर्म उत्तम गिरा ग्राही ऋषि
पारदर्शी चेतना निज
सात सत्रों के
यज्ञ, तप इत्यादि इत्यादि में
संलग्न रहते थे.

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनम् कामयामहे
भर्गो अनुप्रयुंक्ताभिन्द्र एतु पुरोगवः।४०।

भूमि दे वह हमें
जो हम चाहते हैं
कीर्ति, वैभववान हों हम
नेतृत्व हो हमारा अति श्रेष्ठ
भूतल पर सदा.

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्याम् मर्त्या व्यैलनाः
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुंदुभिः
सा नो भूमिः प्रणुदताम् सपत्नानसपत्नम्
मा पृथिवी कृणोतु।४१।

भूमि, जिसमें मनुज गाते, नाचते हैं
युद्ध करते वीर जिसमें
हिनहिनाते अश्व
दुन्दिभि नाद होता
शत्रुओं की भूमि वह कर क्लांत
हमारी बाधा हटाये.

यस्यामन्नम् व्रीहियवौ यस्याम् इमाः पञ्चकृष्टयः
भूम्यैः पर्जन्यपत्न्यैः नमोस्तु वर्षमेदसे।४२।

अन्न यव इत्यादि
पैदा जहां होते वृष्टि जल की
जहां कृषि उद्योग
श्रम करते परस्पर लोग मिलकर
मेघ पत्नी उस धरा को
यह नमन मेरा.

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते
प्रजापतिः पृथिवी विश्वगर्भामाशामाशाम्
रण्याम् नः कृणोतु।४३।

देवताओं ने नगर जिस भूमि में
पहले बनाए
कर्म करते जहाँ
सब स्वक्षेत्र में
प्रजा पालक भूमि वह जो विश्वगर्भा
दिशा प्रदिशाएँ बनाए
रम्यतर, सुंदर।४३।

निधिम् बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं
हिरण्यम् पृथिवी ददातु मे
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी
दधातु सुमनस्यमाना । ४४ ।

रत्न, मणि, धन, स्वर्ण
अपने गर्भ में बहुधा छुपाए
भूमि देवी वर प्रदात्री
दे हमें सब धन
सदा शुभ बुद्धिशीला.

क्रमशः...

गीता के ये श्लोक **प्रो. अनिल विद्यालंकार** (sandhaan@airtelmail.in) द्वारा रचित गीता-सार से लिए जा रहे हैं, जिसमें गीता के मुख्य विषयों पर कुल १५० श्लोक संगृहीत हैं.

विषय : पुरुष और प्रकृति

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः

गीता १८-४०

पृथ्वी पर या स्वर्ग के देवताओं में कोई भी प्राणी या पदार्थ ऐसा नहीं है जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीन गुणों से मुक्त हो.

यह संपूर्ण सृष्टि प्रकृति से बनी है इसलिए इसका प्रत्येक पदार्थ प्रकृति के गुणों से निर्मित है और उनसे नियंत्रित है. जैसा कि पिछले श्लोक में कहा गया है, जीवात्मा प्रकृति से नहीं बना है पर शरीरधारी होने के कारण वह प्रकृति के गुणों के बंधन में है. इस प्रकार इस चराचर जगत् में जो कुछ भी हमें दिखाई देता है वह वास्तव में प्रकृति का ही कोई न कोई रूप है. ज्ञान प्राप्ति के हमारे साधन इंद्रियाँ, मन और बुद्धि भी प्रकृति से ही बने हैं, इसलिए जगत् के विषय में जो कुछ भी हम जानेंगे वह भी प्रकृति के इन तीन गुणों से प्रभावित होगा. हम किसी व्यक्ति, पदार्थ या घटना को उसके वास्तविक रूप में नहीं, अपितु केवल उस रूप में जानते हैं जिस रूप में वह हमारी अनुभूतियों को प्रभावित करते हैं. इन अनुभूतियों में हमारी वैज्ञानिक जिज्ञासा भी शामिल है.

न वा पृथिव्यां : न तो पृथ्वी पर, **वा पुनः** : या फिर, **दिवि देवेषु** : स्वर्ग के देवताओं में, **तत् सत्त्वं अस्ति** : वह प्राणी या पदार्थ है, **यत्** : जो, **प्रकृतिजैः** : प्रकृति से उत्पन्न, **एभिः त्रिभिः गुणैः** : इन तीन गुणों से, **मुक्तं स्यात्** : मुक्त हो.

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकम् अनामयम्
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ

गीता १४-६

इनमें से सत्त्वगुण निर्मल है और वह प्रकाश और आरोग्य देता है. साथ ही, वह सुख और ज्ञान की आसक्ति से मनुष्य को बाँधता भी है.

मनुष्य के अन्दर भी पुरुष और प्रकृति का संयुक्त खेल चल रहा है. उसकी सारी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ प्रकृति के द्वारा की जा रही हैं, पर अनुभूति उसके अन्दर विद्यमान चेतना को होती है. अपने विकास की प्रक्रिया में मनुष्य तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्त्वगुण की ओर बढ़ रहा है. जब तक मनुष्य शरीरधारी है तब तक वह इन गुणों के बंधन में रहेगा ही. इन तीन गुणों में से सत्त्वगुण का बंधन सबसे हलका है क्योंकि वह प्रकाश, सुख और ज्ञान आदि के बंधन से ही मनुष्य को बाँधता है. अच्छे पदार्थ की इच्छा भी मनुष्य को बंधन में डालती है. यद्यपि सत्त्वगुण का बंधन बहुत हल्का है, किन्तु है तो वह बंधन ही. पूर्ण मुक्ति के लिए मनुष्य को सुख आदि की इच्छा से भी ऊपर उठना होगा.

अनघ : हे निष्पाप अर्जुन, **तत्र सत्त्वं** : इनमें सत्त्व गुण, **निर्मलत्वात्** : निर्मल होने के कारण, **प्रकाशकम् अनामयम्** : प्रकाश और आरोग्य देनेवाला है, और वह, **सुखसङ्गेन च ज्ञानः सङ्गेन** : सुख और ज्ञान की आसक्ति से, **बध्नाति** : बाँधता है.

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंग-समुद्भवम्
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम्

गीता १४-७

रजोगुण रागात्मक है और तृष्णा के संग से उत्पन्न होता है. वह देहधारी जीव को कर्म के संग से बाँधता है.

संसार में अधिकतर मनुष्य रजोगुण के बंधन में हैं. रजोगुणी मनुष्य में रागतत्व प्रबल होता है. उसकी अनंत लालसाएँ होती हैं जिन्हें पूरा करने के लिए वह निरन्तर इधर-उधर भटकता रहता है. उसकी एक इच्छा पूरी हो नहीं पाती कि दस नई इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं. जब उसकी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं तो उसे क्रोध आता है (कामात् क्रोधोऽभिजायते). ऐसा व्यक्ति सदा अशांत रहता है. वह बहुत बोलता है, बहुत सोचता है और उसका शरीर भी सदा हलचल में रहता है. इस दुनिया में अधिकतर क्लेश रजोगुणी व्यक्तियों की इच्छाओं की टकराहट के कारण उत्पन्न होते हैं. साथ ही, यह भी सच है कि संसार में भौतिक प्रगति भी रजोगुणी व्यक्तियों की भाग-दौड़ से होती है. रजोगुण इस प्रकार समृद्धि और अशांति दोनों को साथ-साथ जन्म देता है.

कौन्तेय : हे अर्जुन, **रजो रागात्मकं विद्धि** : रजोगुण को रागात्मक जान, जो कि, **तृष्णासङ्ग-समुद्भवम्** : तृष्णा के संग से उत्पन्न होता है, **तत्** : वह, **कर्मसङ्गेन** : कर्म की आसक्ति से, **देहिनं निबध्नाति** : शरीर में रहनेवाली आत्मा को बाँधता है.

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्
प्रमादालस्यनिद्राभिः तन्निबध्नाति भारत

गीता १४-८

हे अर्जुन, तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है और सब प्राणियों को मोह में डाले रहता है. वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा से सबको बाँधता है.

तमोगुणी मनुष्य सबसे अधिक बंधन में रहता है. उसमें महत्त्वाकांक्षा नहीं होती और जो भी थोड़ा-सा उसे मिल जाए उससे वह संतुष्ट रहता है. उसमें आत्म-नियंत्रण नहीं होता इसलिए वह सदा परिस्थितियों के अधीन होकर जीता है. स्वतंत्र चिंतन न कर पाने के कारण वह सदा मानसिक बंधन में भी रहता है. हमारे बीच अनेक मान्यताएँ केवल इसलिए चली आ रही हैं कि किसी ने उनके बारे में प्रश्न उठाने का सोचा ही नहीं. अधिकतर धार्मिक मान्यताएँ केवल इसलिए सैकड़ों-हज़ारों वर्षों तक चलती रहती हैं कि धर्मों के अनुयायी अपनी तामसिक मनोवृत्ति के कारण उनके बारे में सोचना ही नहीं चाहते. शारीरिक आलस्य के समान मानसिक आलस्य भी मनुष्य को दास बनाता है.

भारत : हे अर्जुन, **तमः तु अज्ञानजं विद्धि** : तम को तो अज्ञान से उत्पन्न जान, **जो सर्वदेहिनां मोहनम्** : सब देहधारियों को मोह में रखनेवाला है, **तत्** : वह, **प्रमाद-आलस्य-निद्राभिः** : प्रमाद, आलस्य और निद्रा से, **निबध्नाति** : बाँधता है.■

जारी...

डॉ. ओमप्रकाश गुप्ता

गणित एवं औद्योगिक इंजीनियरिंग में डिग्रियां. तीस वर्षों से मैनेजमेंट के प्रोफेसर. फिलहाल युनिवर्सिटी ऑफ ह्यूस्टन-डाउनटाउन में सेवारत. पचास से अधिक शोध-पत्र विश्व के नामी जर्नल्स में प्रकाशित. दो मैंनेजमेंट जर्नल के मुख्य संपादक एवं कई अन्य जर्नल्स के संपादक. हिंदी पढ़ने-लिखने में रुचि. काव्य-लेखन, विशेषकर सामयिक एवं धार्मिक काव्य लेखन में.

सम्पर्क : om@ramacharit.org

कौन बनेगा रामभक्त

निम्न प्रश्नों के उत्तर तुलसीकृत श्री रामचरितमानस के आधार पर दीजिये.
सही उत्तर अगले अंक में प्रकाशित होंगे.

१. राम के बनवास में सबसे पहले उनकी किस ऋषि से भेंट हुई?
- अ) विश्वामित्र
- ब) अत्रि
- क) भरद्वाज
- द) वाल्मीकि

२. 'रघुकुल रीति सदा चली आई', यह प्रसिद्ध पंक्ति किसने कही है?
- अ) राम
- ब) कैकेयी
- स) दसरथ
- द) कौशल्या

३. चित्रकूट किस नदी के किनारे था?
- अ) गंगा
- ब) यमुना
- स) सरयू
- द) मन्दाकिनी

४. इन घटनाओं में किनका क्रम सही है?
- अ) केवट प्रसंग-ताड़का वध- दसरथ मृत्यु
- ब) ताड़का वध- दसरथ मृत्यु-केवट प्रसंग
- स) ताड़का वध- केवट प्रसंग-दसरथ मृत्यु
- द) दसरथ मृत्यु-केवट प्रसंग-ताड़का वध

५. 'रावनारि' कौन है?
- अ) मंदोदरी
- ब) सीता
- स) राम
- द) मेघनाद

६. लक्ष्मण के कितने पुत्र थे?
- अ) १
- ब) २
- क) ३
- द) १००

७. प्रतापभानु किस देश का राजा था?
- अ) कैकय
- ब) विदेह
- स) काशी
- द) मालवा

८. गंगा किस प्रकार से पृथ्वी पर आई, यह जानकारी राम को किसने दी?
- अ) वशिष्ठ
- ब) विश्वामित्र
- स) दसरथ
- द) भीष्म

९. राम के राज्याभिषेक का तिलक सबसे पहले किसने किया?
- अ) कौसल्या
- ब) कैकेयी
- स) वशिष्ठ
- द) भरत

१०. विभीषण शरणागति का वर्णन किस काण्ड में है?
- अ) सुंदरकाण्ड
- ब) लंकाकाण्ड
- स) उत्तरकाण्ड
- द) किष्किन्धाकाण्ड

प्रश्नों के उत्तर तुरंत जानने के लिए kbr@ramacharit.org पर आग्रह किया जा सकता है.

अक्टूबर २०१२ अंक में प्रकाशित प्रश्नों के सही उत्तर हैं :

१. स, २. द, ३. ब, ४. द, ५. अ, ६. ब, ७. अ, ८. ब, ९. ब, १०.द

पंचतंत्र कई दृष्टियों से संसार की सर्वाधिक लोकप्रिय कृतियों में से एक है। इसमें संकलित कहानियों का मूल उत्स लोक-जीवन है। भारतीय कृतियों में पंचतंत्र ऐसी अकेली रचना है, जिसे पूरी तरह ज्ञानकोश कहा जा सकता है। कथा प्रस्तुति की जो शैली इसमें प्रयुक्त है, उसकी एक लंबी परम्परा है। 'वेद', 'ब्राह्मण' आदि ग्रंथों में भी इस फैंटेसी का प्रयोग हुआ है।

मारा गया घंटाऊंट

किसी जगह उज्जवल नाम का एक बढ़ई रहता था. अपनी दरिद्रता से तंग आकर एक दिन वह सोचने लगा- मेरे घर की इस दरिद्रता को धिक्कार है. यह तो मेरे घर पांव तोड़कर बैठ गई है. दूसरे सारे लोग अपने-अपने धंधे में लगे हैं और उन्हें भरपूर आमदनी भी हो रही है और एक मैं हूं कि मेरे घर में कभी पूरा ही नहीं पड़ता. इस नगर में रहा तो मेरा धंधा चमकने से रहा. दूसरे कारीगरों के पास तो चार-चार तल्ले के मकान हो गए हैं और मैं हूं कि ठनठन गोपाल. मेरे पास एक तल्ले का भी मकान नहीं. ऐसे काम-धंधे से क्या फायदा!

> युद्ध में दोनों हाथों में लड्डू रहते हैं. जीत गए तब तो जीत हो ही जाती है, यदि नहीं जीत सके तो भी मारे जाने पर भी स्वर्ग तो मिलता ही है.

यही सोचकर वह घर से परदेश के लिए निकल पड़ा.

वह अपनी राह चला जा रहा था. उसका रास्ता एक जंगल से होकर जाता था. शाम होने को आ गई थी, तभी उसकी निगाह एक ऊंटनी पर पड़ी जो अपने झुंड से बिछड़ गई थी जिसने अभी-अभी एक बच्चे को जन्म दिया था और प्रसव वेदना से निढाल हो कर एक ओर बैठी हुई थी. वह उस बच्चे के साथ ऊंटनी को पकड़कर घर की ओर चल पड़ा. घर पर ऊंटनी को छोड़कर एक पैनी कुल्हाड़ी लेकर वह पत्ता काटने के लिए पहाड़ी की ओर चला गया. वहां से खूब हरा-हरा नरम चारा अपने सिर पर उठाए वह घर आया और ऊंटनी के आगे डाल दिया. वह चुपचुपा पत्तियां खाने लगी.

अब वह इसी तरह रोज चारा ला कर ऊंटनी को देने लगा. मां और बच्चे इस चारे से मोटे और स्वस्थ होने लगे. धीरे-धीरे बच्चा बड़ा हो गया. अब वह ऊंटनी का दूध निकालकर अपने परिवार के काम लाने लगा. उसके परिवार में खुशी लौटने लगी. वह ऊंट के बच्चे को बहुत प्यार करता था. उसने उसके गले में एक घंटा बांध दिया था. अब उसके जी में आया कि कौन जी तोड़ मेहनत या बाजार व्यापार करने जाए. गुजारा तो इस ऊंटनी से हो ही जा रहा है. इतनी हाय-हाय भी क्या पड़ी है. यदि व्यापार ही करना हो तो ऊंटों का व्यापार क्या बुरा है.

यह सोचकर उसने अपनी जोरू से कहा, 'प्रिये, यदि तुम कहो तो गांव के महाजन से कुछ रुपया उधार लेकर गुजरात चल जाऊं और वहां से ऊंट खरीद कर उन्हीं का व्यापार करूं. जब तक मैं कोई नई ऊंटनी लेकर नहीं लौटता तब तक तुम इनकी देखभाल ठीक से करना.'

उसकी जोरू को भी यह बात जंच गई. अब क्या था. उसने महाजन से पैसे उधार लिए और ऊंटनी खरीदने के लिए गुजरात को रवाना हो गया. अब जब वह वापस लौटा तो उसके पास ऊंटनियों, ऊंटों और ऊंटों के छौनों का एक पूरा झुंड-सा हो गया. उसने ऊंटों का एक झुंड बना लिया और उनकी रखवाली के लिए एक नौकर रख लिया. अब वह खूब आराम से रहने लगा.

बढ़ई के सारे ऊंट नगर के पास की ही एक वनस्थली में चरने जाया करते थे. वे दिन भर वहां पेड़ों की मुलायम पत्तियां चरते और दिन ढलने पर कूदते-उछलते वापस लौट आते थे. बस ऊंट का वही एक बच्चा जिसके गले में घंटा बंधा हुआ था और जो अब जवान होने पर आ गया था, दूसरों से कुछ पीछे रह जाता और सबसे बाद में झुंड में शामिल होता था.

इसकी इस आदत को देखकर ऊंटों के दूसरे बच्चों ने सोचा, यह जिस तरह पूरे झुंड से अलग हो जाता है और घंटा बजाता हुआ सबसे बाद में हमारे दल में आता है उससे लगता है यह बहुत मूर्ख है. यदि यह किसी जंगली जानवर की चपेट में आ गया तो इसे कोई बचा नहीं पाएगा.

उन्होंने उसको तरह-तरह से समझाया कि वह अपनी यह आदत छोड़ दे पर वह कहां का मानने वाला. वह उल्टे और देर कर देता और फिर जोर से दौड़ता हुआ, घंटा टनटनाटा हुआ आकर दल में शामिल हो जाता.

एक बार वह दूसरों से बिछड़कर घने जंगल में चला गया.

वहां उसके घंटे की आवाज एक शेर के कान में पड़ी और उसने सिर उठाकर इधर-उधर निगाह दौड़ाई तो देखा ऊंटों, ऊंटनियों और उनके बच्चों का एक जत्था ही चला आ रहा है.

वह रोज की तरह उस दिन भी इधर उधर किलोले करता और पत्तियां खाता रहा. इधर दूसरे सारे ऊंट भरपेट चरने के बाद वापस लौटने लगे पर घंटाधारी ऊंट अपनी शरारत के कारण अभी पीछे रुका रह गया. दूसरे सारे ऊंट वन से बाहर आ गए. घंटाधारी ऊंट रास्ता ही भूल गया. वह इधर-उधर देखने लगा कि किधर जाए. निराश होकर वह एक ओर चल दिया. उसके गले में बंधे घंटे से लगातार आवाज तो हो ही रही थी. उधर शेर उसके घंटे की आवाज से अनुमान लगाकर चुपचाप उसके रास्ते में दुबक कर बैठ गया. जब वह उसके पास आ गया तो शेर उछला और उसकी गर्दन दबोच ली.

यह कहानी सुनाने के बाद बंदर ने कहा, 'इसीलिए कहता हूं, मूर्ख को उसके हितैषी और बड़े-बूढ़े भी सलाह दें तो उस पर उसका असर नहीं होता. वह ठीक उससे उल्टा ही करता है और इस तरह अपनी जान से भी हाथ धो बैठता है.'

बंदर की बात सुनकर घड़ियाल बोला, 'भाई समझदार लोग तो कहते हैं कि एक साथ सात कदम चलने से ही सज्जनों के बीच मित्रता हो जाती है. मैं तो तुम्हारे साथ बहुत दिनों तक बैठ कर बातें करता रहा हूं. अब मैं तुम्हारी उसी पुरानी मित्रता की याद दिलाकर एक बात कहना चाहता हूं. तुम उसे अनसुनी न करना. जो बात मैं तुमसे कहना चाहता हूं वह यह है कि दूसरों को उचित सलाह देने वालों को इस दुनिया में हो या परलोक में, कभी दुख नहीं होता.'

'मैं हूं तो तुम्हारा कृतघ्न मित्र ही पर उचित सलाह देने से न कतराओ. जो लोग केवल उनके प्रति सज्जनता से पेश आते हैं जिनका उनके ऊपर कोई उपकार है उनकी सज्जनता किस काम की. वे तो व्यापार करते हैं. सज्जन तो वह है जो अपने दुश्मनों के साथ भी सज्जनता से पेश आता है.'

घड़ियाल की बात सुनकर बंदर ने कहा, 'यदि यही बात है तो मैं तो यही सलाह देता हूं कि तुम वहां जाकर उससे लोहा लो. कहा गया है कि युद्ध में दोनों हाथों में लड्डू रहते हैं. जीत गए तब तो जीत हो ही जाती है, यदि नहीं जीत सके तो भी मारे जाने पर भी स्वर्ग तो मिलता ही है.'

फिर नीति भी यही कहती है कि उत्तम प्रकृति के लोगों के साथ ठन जाए तो उनके सामने झुककर मेल-मिलाप कर लेना चाहिए. शत्रु योद्धा और बलवान हो तो उसके बीच फूट डालने की कोशिश करनी चाहिए. यदि शत्रु अपने से निर्बल होते हुए भी नीच प्रकृति का हो तो उसे कुछ ले-देकर सुलह-सपाटा कर लेना चाहिए, पर यदि वह बराबरी का हो तो उसका मुंह-तोड़ जवाब देना चाहिए.

घड़ियाल ने पूछा, 'कुछ और खोलकर समझाओ.'

बंदर ने उसे चतुरक सियार की कहानी कह सुनाई. ■

60 MILLION

CHILDREN IN INDIA

have no means to go to school

Contribute just Rs. 2750*

and send one child to school

for a whole year

Central & General Query

info@smilefoundationindia.org

http://www.smilefoundationindia.org/contactus.htm

गर्भनाल द्वारा जनहित में जारी

महर्षि वेद व्यास

वैदिककालीन ऋषि वेद व्यास की रचना महाभारत की गणना भारतीय साहित्य-भंडार के सर्वश्रेष्ठ महाग्रंथों में की जाती है। इसमें पांडवों की कथा के साथ अनेक सुन्दर उपकथाएँ हैं तथा बीच-बीच में सूक्तियाँ एवं उपदेशों के उज्जवल रत्न भी जुड़े हुए हैं। महाभारत एक विशाल महासागर है जिसमें अनमोल मोती और रत्न भरे पड़े हैं। रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति और धार्मिक विचार के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।

महाभारत

भीष्म का अंत

दसवें दिन का युद्ध शुरू हुआ. आज पांडवों ने शिखंडी को आगे किया था. आगे-आगे शिखंडी और उसके पीछे अर्जुन. शिखंडी की आड़ में अर्जुन ने पितामह के ऊपर बाण बरसाए. आज भीष्म का तेज ऐसा प्रखर हो रहा था मानो भीष्म में मध्याह्न का सूर्य.

शिखंडी के बाणों ने वृद्ध पितामह का वक्ष-स्थल बींध डाला. क्षण-भर के लिये भीष्म की आंखों से मानों चिंगारियां निकलीं. ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी अग्निमय दृष्टि ही शिखंडी को जलाकर राख कर देगी? परन्तु पल-भर बाद ही भीष्म का क्रोध शांत हो गया.

उन्हों ने अपने को संभाल लिया और यह सोचकर कि जीवन-संध्या समीप आ रही है, वह कुछ देर शिखंजी का प्रतिरोध किये बिना मूर्तिवत खड़े रहे. यह दृश्य देखकर सब अचंभे में आ गये. देवता तक विस्मित हो उठे.

पर भीष्म के मन की बातें शिखंडी क्या जानता? वह तो बाण-पर-बाण बरसाये ही जा रहा था. भीष्म ने अपने चेहरे पर जरा भी शिकन न आने दी और शिखंडी के बाणों का प्रत्युत्तर नहीं दिया. अर्जुन ने जब यह देखा कि पितामह प्रतिरोध नहीं कर रहे हैं तो जरा जी कड़ा करके भीष्म के मर्म-स्थानों को लक्ष्य करके तीखे बाणों से बींधना शुरू कर दिया. भीष्म का सारा शरीर बिंध गया, पर इतने पर भी उनका मुख मलिन न हुआ. वह मुस्कराते हुए पास ही खड़े दुःशासन से कहने लगे- देखो, ये बाण अर्जुन के हैं, शिखंडी के नहीं. जैसे केंकड़ी के शरीर को उसके बच्चे ही फाड़ देते हैं उसी प्रकार अर्जुन के ये बाण मेरे शरीर को बींध रहे हैं. अपने प्यारे पौत्र के चलाये बाणों के प्रति भी पितामह की इस प्रकार की कोमल भावना थी.

भीष्म ने शक्ति-अस्त्र अर्जुन पर चलाया. अर्जुन ने उसे तीन बाणों से काट गिराया. अब भीष्म को यह निश्चय हो गया कि आज का युद्ध उनका आखिरी युद्ध होगा. इस कारण वह हाथ में ढाल-तलवार लेकर रथ से उतरने लगे. इतने में अर्जुन के चलाए बाणों से उनकी ढाल के टुकड़े-टुकड़े हो गये. अर्जुन का बाण बरसाना जारी था. उसके बाणों ने पितामह के शरीर में उंगली रखने की भी जगह न छोड़ी थी. पितामह के सारे शरीर पर बाण ही बाण चुभ गये थे और ऐसी अवस्था में ही भीष्म रथ से सिर के बल जमीन पर गिर पड़े. भीष्म के गिरने पर आकाश में खड़े देवताओं ने अपने दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया और दिशाओं में सुवास-भरी मंद-मंद पवन पानी की बूंदे छिड़काती हुई चलने लगी.

आकाश से पृथ्वी पर उतरकर प्राणीमात्र के शरीर तथा आत्मा का जिन्होंने कल्याण किया उन पूजनीय माता गंगा के पुत्र महात्मा भीष्म, पिता शांतनु को सुख पहुंचाने की खातिर राज्यश्री एवं सुख भोग को त्यागकर आजीवन ब्रह्मचर्य के व्रत पर अटल रहने वाले महान वीर भीष्म, परशुराम को परास्त करने वाले अद्वितीय योद्धा भीष्म, अविश्वासी दुर्योधन की खातिर अपने सत्यव्रत पर दृढ़ रहकर, तिल-तिल करके प्राणों की आहुति देते रहकर तथा युद्ध भूमि पर आग के तप्त अंगारे के सामने तीखे बाणों से सारे शरीर से बिंध जाने पर भी अपनी शक्ति के अंतिम क्षण तक पांडवों को कंपाने वाले भीष्म, महाभारत के युद्ध के दसवें दिन, शक्ति की अंतिम बूंद समाप्त हो जाने पर रथ से भूमि पर गिर पड़े! और भीष्म के गिरने के साथ ही कौरवों के हृदय भी गिर गये.

भीष्म गिरे तो, लेकिन उनका शरीर भूमि से न लगा. सारे शरीर में जो बाण लगे थे वे एक तरफ से घुसकर दूसरी तरफ निकल आए थे. भीष्म का शरीर जमीन पर न पड़कर उन तीरों के सहारे ही ऊपर उठा रहा. उस विलक्षण शर-शय्या पर पड़े भीष्म के शरीर से एक अनूठी आभा फूट रही थी. वह पहले से भी अधिक ज्वलंत दिखाई दे रहे थे. भीष्म के गिरते

> *"अर्जुन ने तुरन्त धनुष तानकर भीष्म की दाहिनी बगल में पृथ्वी पर बड़े जोर से एक तीर मारा. बाण पृथ्वी में घुसकर सीधा पाताल में जा लगा. उसी क्षण उस स्थल से जल का एक सोता फूट निकला."*

ही दोनों पक्ष के वीरों ने युद्ध बंद कर दिया और भीष्म के दर्शनार्थ झुंड-के-झुंड दौड़ पड़े. भरत देश के सभी राजा भीष्म के आगे सिर झुकाये, हाथ जोड़े, उसी प्रकार खड़े रहे, जैसे सारे देवता सृष्टिकर्ता ब्रह्मा को नमस्कार करने खड़े हों .

'मेरा सिर नीचे लटक रहा है. मेरे ऊपर उठाये रखने के लिये सिर के नीचे कुछ सहारा तो कोई लगा दो.' अपने चारों ओर खड़े राजाओं से भीष्म ने कहा.

पास में खड़े राजा लोग शिविरों में दौड़े और कई सुन्दर और मुलायम तकिये ले आए. रेशम और रुई के उन कोमल तकियों को पितामह ने लेने से इनकार कर दिया. अर्जुन से बोले- 'बेटा अर्जुन, मेरे सिर के नीचे कोई सहारा नहीं है. वह लटक रहा है. कोई ठीक-सा सहारा तो लगा दो.'

भीष्म ने यह वचन उसी अर्जुन से कहे जिसने अभी-अभी प्राणहारी बाणों से उनको बींध डाला था. भीष्म का आदेश सुनते ही अर्जुन ने अपने तरकस से तीन तेज बाण निकाले और पितामह का सिर उनकी नोंक पर रखकर उनके लिये उपयुक्त तकिया बना दिया.

भीष्म बोले- 'रे राजागण! अर्जुन ने मेरे लिये जो सिरहाना बनाया है, उसी से मैं प्रसन्न हुआ हूं. अभी मेरा शरीर-त्याग करने के लिये उचित समय नहीं हुआ है. अतः मैं सूर्यनारायण से उत्तरायण होने तक मैं यहीं और ऐसा ही पड़ा रहूंगा. मेरी आत्मा भी उस समय तक शरीर में स्थिर रहेगी. आप लोगों में से जो भी उस समय तक जीवित बचें, वे आकर मुझे देख जायें.'

इसके बाद पितामह ने अर्जुन से कहा- 'बेटा! मेरा सारा शरीर जल रहा है और प्यास लग रही है. थोड़ा पानी तो पिलाओ.'

अर्जुन ने तुरन्त धनुष तानकर भीष्म की दाहिनी बगल में पृथ्वी पर बड़े जोर से एक तीर मारा. बाण पृथ्वी में घुसकर सीधा पाताल में जा लगा. उसी क्षण उस स्थल से जल का एक सोता फूट निकला. कवि कहते हैं कि इस प्रकार माता गंगा अपने महान और प्यारे पुत्र की प्यास बुझाने स्वयं आईं और भीष्म ने अमृत के समान मधुर और शीतल जल पीकर अपनी प्यास बुझाई. वह बहुत ही खुश और प्रसन्न दिखाई दिये.

फिर दुर्योधन से बोले- 'बेटा दुर्योधन! तुम्हें अच्छी बुद्धि प्राप्त हो! देखा तुमने, अर्जुन ने मेरी प्यास कैसे बुझाई? कैसे जल निकला? यह बात संसार में और किसी से हो सकती है? अब भी समय है विलम्ब न करो. अर्जुन से संधि कर लो. मेरी कामना है कि मेरे साथ ही इस युद्ध का भी अवसान हो जाये. बेटा! तुम मेरी बात पर ध्यान देकर पांडवों से अवश्य संधि कर लो.'

मृत्यु को सामने देखने पर भी जैसे रोगी को दवा नहीं सुहाती, कड़वी ही लगती है, वैसे ही दुर्योधन को पितामह की ये बातें बहुत ही कड़वी लगीं पर वह कुछ बोला नहीं.

धीरे-धीरे सभी राजा अपने-अपने शिविरों को लौट आये.■

Who Are You Calling Old?

Proud2B60 :

is a special campaign by Help Age India.

Millions of people are living their later years with unprecedented good health, energy and expectations for longevity.

Suddenly, traditional phrases like "old" or "retired" seem outdated. Help Age's "Who Are You Calling Old?" campaign presents the many faces of this New Age.

New language, imagery, and stories are needed to help older people and the general public re-envision the role and value of elders and the meaning and purpose of one's later years. This campaign is about leading this change. It is about combating the negative image of the frail, dependent elder.

General Query

http://www.helpageindia.org

गर्भनाल द्वारा जनहित में जारी

आलफोंस दॉदेत

(१८४०-१८९७)

फ्रांस के नाइस्स में जन्म, इन्हें मुख्यतः फ्रेंच साहित्य में इनकी दक्षिण फ्रांस के ग्रामीण जीवन की भावुकतापूर्ण कहानियों के लिए याद किया जाता है. इन्हें फ्रेंच साहित्य का डिकेन्स भी कहा जाता है.

अनुवाद

फ्रेंच से बांग्ला अनुवाद अमिताभ देव चौधरी एवं बांग्ला से हिन्दी अनुवाद गंगानन्द झा

मातृभाषा का आखिरी पाठ

'When a people are enslaved, as long as they hold fast to their language, it is as if they have the key to their prison.'

- Alphonse Daudet

मुझे सुबह स्कूल के लिए निकलने में बहुत देर हो गई थी. डाँट लगने का डर हो रहा था मुझे. पिछले दिन आमेल सर ने कह दिया था कि वे पार्टिसिपल के बारे में सवाल पूछेंगे. और यकीन मानो, मैंने पार्टिसिपल के बारे में कुछ भी नहीं याद किया था. एक बार मन किया कि भाग जाऊँ, स्कूल के बहाने सारा दिन बाहर भटकता रहूँ. चारों ओर इतनी रोशनी है, इतनी गर्माहट. जंगल के किनारे पंछी चिकिर-मिकिर कर रहे हैं. आरा मशीन के पीछे के खुले मैदान में प्रुशियाई सेनाएँ कुचकवाच कर रही हैं. पार्टिसिपल के नियमों के मुकाबले में ये मुझे काफी अधिक खींच रही थी. अंततः पता नहीं कैसे मैंने अपने आप पर काबू किया और स्कूल की ओर दौड़ लगाई.

टाउनहॉल के बगल से गुजरते समय देखा, नोटिस-बोर्ड के सामने भीड़ लगी है. पिछले दो सालों से सारी बुरी खबरें

> *फ्रेंच का मेरा आखिरी पाठ! मातृभाषा सीखना अब कभी भी नहीं हो पाएगा. दुख से मेरा मन भर गया. इतने दिनों में फ्रांसीसी भाषा कुछ भी नहीं सीख पाया हूँ, स्कूल से भागकर चिड़िया के अण्डे ढूँढ़ता रहा हूँ और नदी के पानी में कलरव करता रहा हूँ.*

इसी नोटिस बोर्ड पर लटकाई जाती रही हैं — युद्ध में हार की खबर, फौज में जबरदस्ती भर्ती किए जाने की खबर, सेनापति के हुक्मनामे, सब कुछ. बिना रुके एकदम में दौड़ लगाते हुए मैं सोचता रहा कि अब क्या हुआ होगा, क्या जाने? जब मैं पागल की तरह सरपट भाग रहा था, पीछे से गाँव के लोहार और बढ़ई- जो अपने कर्मचारियों के साथ वहाँ खड़े होकर नोटिस पढ़ रहे थे, ने हाँक लगाई—— ऐ छोकरे, इतनी जोर से मत दौड़ो, अभी स्कूल के लिए ढेर समय पड़ा है. मुझे लगा कि वे सब मेरा मजाक उड़ा रहे हैं. एक दौड़ में जब आमेल सर के बागान में पहुँचा तो मैं हाँफ रहा था.

सामान्यतः जब स्कूल शुरू होता तो मुख्य सड़क पर से ही स्कूल का शोरगुल सुनाई पड़ता था- डेस्क के खुलने-बन्द होने की आवाज, सबों के एक साथ चिल्लाकर पढ़ने का शोर, सर की छड़ी मेज पर पटके जाते रहने का शोर. लेकिन उस दिन सब कुछ एकदम ठण्डा था, चुपचाप. मैंने सोचा था कि हंगामे का फायदा उठाकर, सर की नजर बचाकर कमरे में घुस जाऊँगा. लेकिन उस दिन तो रविवार की सुबह की तरह सब कुछ शान्त था. खिड़की से देखा मेरे सारे साथी अपनी-अपनी जगह पर बैठे हुए हैं. आमेल सर अपनी डरावनी बेंत हाथ में

बच्चो! आज मैं तुम्हें आखिरी बार पढ़ाऊँगा. बर्लिन से फरमान आया है कि आलसस और लॉरेन के स्कूलों में अब से केवल जर्मन भाषा पढ़ाई जाएगी. आज फ्रेंच का तुम लोगों का आखिरी पाठ है. मैं चाहता हूँ कि आज तुम सब खूब मन लगाकर पढ़ो.

लिए कमरे में टहल लगा रहे हैं. अपने हाथ से दरवाजा खोलकर सबों के सामने से मुझे कमरे में दाखिल होना पड़ा. जरा गौर करो, शर्म से मैं किस तरह लाल हो उठा था. बहुत डरा हुआ था मैं.

लेकिन कुछ भी नहीं हुआ. आमेल सर ने मुझे देखा, और कैसा आश्चर्य, प्यार से ही कहा, जल्दी से जाकर अपनी जगह पर बैठो, फ्रांत्स. आज तुम्हारे बगैर ही हमने पढ़ाई शुरू कर दी थी.

मैं बेंच पर उछल कर अपने डेस्क पर जा बैठा. कुछ देर बाद जब डर थोड़ा सा कम हुआ तो देखा हमारे सर अपना सुन्दर हरे रंग का कोट पहने हुए हैं, इस्त्री किया हुआ शर्ट पहने हुए हैं, सर पर सिल्क की काली छोटी टोपी है, सब कुछ चुस्त-दुरुस्त. सामान्यतः वे इंस्पेक्टर के आने के दिन और पुरस्कार वितरण समारोह के दिन के अलावे इन्हें नहीं पहनते. पूरा स्कूल अस्वाभाविक रूप से शान्त और गंभीर था. लेकिन मेरे लिए सबसे अधिक अचम्भे की बात थी कि पिछले बेंचों पर (जो सामान्यतः खाली रहते थे) गाँव के बूढ़े लोग छात्रों की तरह चुपचाप बैठे हुए थे. अपने सर पर तिकोनी टोपी लगाए वृद्ध हाउज़र, पूर्व मेयर, पूर्व प्रधानाध्यापक के अलावे भी बहुत से लोग. सारे लोग बहुत उदास दिख रहे थे. हाउज़र वर्ण परिचय की एक पुरानी प्रति ले आए थे, जिसके पन्नों के कोने घिसकर मुड़ गए थे, घुटनों पर खुली वह किताब और उसके ऊपर हाउज़र का चश्मा तिरछे पड़ा हुआ था.

जब मैं इन सारी बातों में उलझा हुआ था, आमेल सर जाकर कुर्सी पर बैठ गए और उसी तरह धीमे और स्नेह से बोले, जैसे पहले भी बोला करते थे — बच्चो! आज मैं तुम्हें आखिरी बार पढ़ाऊँगा. बर्लिन से फरमान आया है कि आलसस और लॉरेन के स्कूलों में अब से केवल जर्मन भाषा पढ़ाई जाएगी. आज फ्रेंच का तुम लोगों का आखिरी पाठ है. मैं चाहता हूँ कि आज तुम सब खूब मन लगाकर पढ़ो.

उनकी बातें बिजली गिरने की तरह सुनाई पड़ीं. हाय, हाय, कितना बेवकूफ हूँ मैं, टाउनहॉल में यही नोटिस चिपकाई गई थी. फ्रेंच का मेरा आखिरी पाठ! मातृभाषा सीखना अब कभी भी नहीं हो पाएगा. दुख से मेरा मन भर गया. इतने दिनों में फ्रांसीसी भाषा कुछ भी नहीं सीख पाया हूँ, स्कूल से भागकर चिड़िया के अण्डे ढूँढ़ता रहा हूँ और नदी के पानी में कलरव करता रहा हूँ. जो किताबें कुछ देर पहले तक कूड़ा लगती थीं, भारी, बेकार गधे का बोझ लगती थी, ग्रामर की मेरी किताब, महापुरुषों की जीवनियों की किताबें, सब की सब पुराने मित्रों की तरह लगने लगीं, जिनका मैं कभी भी त्याग नहीं कर सकता. इसके साथ आमेल सर की भी बात. वे हमेशा के लिए हमें छोड़कर चले जा रहे हैं, अब उन्हें हम कभी भी नहीं देख पाएँगे- इस खयाल से उनके भयंकर बेंत और तुनकमिजाजी की बात भूल गया मैं.

अभागा आदमी! इसका मतलब हुआ कि इस आखिरी क्लास के सम्मान में वे अपने परिवार का सबसे सुन्दर पोशाक पहनकर आए है. अब मेरी समझ में आया कि गाँव के बूढ़े लोग पीछे के बेञ्चों पर क्यों बैठे हैं. उनको भी पढ़ना लिखना छूटने का दुख है. अपने तरीके से वे उस मास्टर साहब को सम्मान जाहिर कर रहे हैं, जो निष्ठा के साथ चालीस सालों से इस स्कूल में पढ़ाते रहे हैं. वे उनको सम्मान प्रदर्शित कर रहे हैं और उनके साथ अपने देश को भी, जो देश अब के बाद उनका नहीं रहेगा.

मैं इन्हीं बातों में उलझा हुआ था, तभी मेरा नाम पुकारा गया. अपनी पढ़ाई पेश करने की बारी. क्या ऐसा नहीं हो सकता था कि मैं पार्टिसिपल के उन भयानक नियमों को धड़ल्ले से, एक भी गलती किए बग़ैर, गड़गड़ करके बोल सकता? लेकिन शुरू में ही सब गड़बड़ा गया. डेस्क पर हाथ रख, आँख उठाकर ताकने की हिम्मत नहीं जुटा पाने के कारण मैं खड़ा रहा. सुना, आमेल सर मुझसे ही कह रहे है : छोटे फ्रानत्स्! मैं तुम्हें नहीं डाँटूंगा, मैं जानता हूँ तुमको बहुत बुरा लग रहा है. सुनो, घटना इस तरह की है. हम हर रोज अपने आपसे कहते रहे हैं, समय की कमी तो नहीं है मुझको, सारी पढ़ाई बल्कि कल कर लूँगा. अब देखो हम किस मुकाम पर खड़े हैं! अलसर का यह भयंकर गोलमाल : यह पढ़ाई-लिखाई को हमेशा अगले दिन के लिए टाल देता है. अब मैदान में खड़े इन लोगों को तुमसे ऐसा कहने का अधिकार होगा, तो यह क्या हुआ? तुम लोग अपने आपको फ्रांसिसी मानते हो, कहते हो और दूसरी ओर न तो तुम फ्रांसिसी भाषा बोल सकते हो न लिख ही सकते हो. लेकिन ऐसा भी नहीं है कि तुम्हारी ही हालत सबसे बुरी है, फ्रानत्स. खुद को गालीगलौज करने के हम सबों के पास बहुत-सी वजहें हैं.

तुम्हारे माता-पिता ने तुम्हें पढ़ाने में वैसी दिलचस्पी नहीं दिखाई. बल्कि दो पैसे रोजगार करने उन्हें तुम्हें खेत खलिहान अथवा कल-कारखानों में भेजना पसन्द किया है. और मेरी खुद की बहुत सी गलतियाँ हैं. जब तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई

करने की बात थी, तब क्या मैंने तुम्हें अनेक दिन अपने बागीचे के फूल के पौधों में पानी देने नहीं भेजा? और जिस दिन मेरा मन मछली पकड़ने का हुआ तो क्या मैंने तुम लोगों को बिना किसी वजह के छुट्टी नहीं दे दी?

इसके बाद आमेल सर एक-एक कर फ्रांसिसी भाषा की बातें बोलते गए. उन्होंने कहा— यह पृथ्वी की सबसे अधिक सुन्दरी भाषा है/सबसे अधिक स्पष्ट, सबसे अधिक युक्तिपूर्ण है यह. हमें इस भाषा को अपने बीच बचाए रखना है. ध्यान रहे कि कहीं हम इसे भूल न जाएँ. क्योंकि जब कोई राष्ट्र गुलाम हो जाता है तो जब तक वह अपनी भाषा के साथ जुड़ा रहता है, तब तक उनके पास अपने कारागार की चाभी मौजूद रहती है. इसके बाद उन्होंने ग्रामर की एक किताब खोली और पढ़ाने लगे. मैं स्वयम् अवाक् हो गया, कितने सुन्दर सहज रूप से मैं उस दिन सब कुछ समझता गया. जो कुछ भी उन्होंने कहा, लगा कितना आसान, कितना सहज! लगा इसके पहले इतने मन से मैंने कभी भी पढ़ाई नहीं की थी. और सर ने भी इतना मन लगाकर नहीं पढ़ाया था. लगा यह अभागा आदमी जाने के पहले अपना सब कुछ हम लोगों को दे जाना चाहता है. जोर के एक धक्के से जैसे सब कुछ हमारे दिमाग में घुसा देना चाहते हैं.

ग्रामर के बाद हमारा लिखने का वर्ग शुरू हुआ. आमेल सर उस दिन लिखने के लिए हमारे लिए नई कॉपी ले आए थे. उसके ऊपर सुन्दर गोल गोल अक्षरों में लिखा था : फ्रांस देश आलसास, फ्रांस देश आलसास. उसके पन्ने छोटे छोटे पताकाओं की तरह लग रहे थे, कक्षा के अन्दर फरफर करते हुए उड़ रहे थे वे. हमारे डेस्कों के ऊपर कतारों में उन्हें लटका दिया गया था. उचित था कि कोई देखता कि कितनी एकाग्रता से सब कोई पढ़ाई करते जा रहे थे, कितने शान्त थे सब कोई. कॉपियों के पन्नों पर कलम चलने की अकेली आवाज थी. एक बार कई एक गन्दे कीड़े उड़ते हुए आ गए, लेकिन किसी ने उनपर ध्यान नहीं दिया. यहाँ तक कि हालाँकि कबूतर बकमबक करते जा रहे थे, तो हमारे मन में हुआ कि क्या वे लोग कबूतरों को भी जर्मन गाना सिखाएँगे?

मैं बीच-बीच में किताब से नजर उठाकर आमेल सर की ओर देखता तो उन्हें अपने चेयर पर चुपचाप बैठकर एक के बाद एक चीज पर नजर डालते पाता. लगता कि वे तूफान को अपने मन में ही दबाए रखने की कोशिश कर रहे हैं. गौर करो, पिछले चालीस सालों से लगातार एक ही क्लास में वे पढ़ाते रहे हैं. खिड़की के बाहर उनका बाग और सामने यह क्लास/सब कुछ एक ही तरह. केवल बेंच और डेस्क घिस घिस कर चिकने हो गए हैं, बाग के पेड़ अधिक लम्बे हुए हैं और जिस लता को उन्होंने अपने हाथ से लगाया था, वह लतराकर खिड़की पर से होती हुई छत पर चढ़ गई है. इन सबों को छोड़कर जाते हुए निश्चित रूप से उनके प्राण निकल रहे थे. उस वक्त ऊपर के कमरे में उनकी बहन के चलने की पाँवों की आहट सुनाई पड़ रही थी. वे सारा सामान इकट्ठा कर रही थीं. कल ही तो उन लोगों को यहाँ से चला जाना होगा.

वे बोलते गए, मैं— मैं– लेकिन किसी चीज ने उनके गले की आवाज को रोक दिया. इसके आगे वे कुछ भी नहीं बोल सके. ब्लैकबोर्ड की ओर आगे बढ़े वे, चॉक का एक टुकड़ा हाथ में लेकर, अपने शरीर की सारी शक्ति लगाते हुए, जितना बड़ा लिखना मुमकिन होता है, उन्होंने लिखा, फ्रांस दीर्घजीवी हो!

लेकिन स्कूल की पढ़ाई समाप्त होने तक सुनने का धीरज सबों में था. लिखने के बाद हमारा इतिहास का क्लास हुआ. फिर बच्चे अपने क, ख, ग, घ पढ़ने लगे. पीछे की ओर बूढ़े हाउज़र ने अपना चश्मा पहन लिया था, अपने हाथों में वर्ण परिचय की किताब पकड़े बच्चों के साथ आवाज मिलाते हुए वह भी वर्णोच्चारण करता जा रहा था. अगर तुम देखते तो समझ सकते कि तब वह भी रो रहा था. उसकी आवाज आवेश से काँप रही थी. सुनने में इतना अजीब लग रहा था कि हम सब एक साथ हँसना और रोना चाहते थे. आह, आज भी उस आखिरी पाठ का दिन मेरी स्मृति में कितना ताजा है.

साथ-साथ चर्च की घड़ी में बारह बजे. इसके बाद ही एंजेल्स की प्रार्थना. साथ ही कुचकवाच पूरा कर लौटी प्रुशियन सेना की तुरही की आवाज हमारी खिड़की के ठीक नीचे गूँज उठी. आमेल सर खड़े हो गए. वे बिलकुल पीले दिख रहे थे. इसके पहले वे मुझे कभी भी इतने लम्बे नहीं लगे थे.

मित्रो! वे बोलते गए, मैं— मैं– लेकिन किसी चीज ने उनके गले की आवाज को रोक दिया. इसके आगे वे कुछ भी नहीं बोल सके. ब्लैकबोर्ड की ओर आगे बढ़े वे, चॉक का एक टुकड़ा हाथ में लेकर, अपने शरीर की सारी शक्ति लगाते हुए, जितना बड़ा लिखना मुमकिन होता है, उन्होंने लिखा, फ्रांस दीर्घजीवी हो!

इसके बाद वे दीवाल पर भार देते हुए खड़े हुए. कुछ भी बोले बग़ैर उन्होंने हाथ के इशारे से बतला दिया : स्कूल शेष, अब तुम लोग जा सकते हो.■

रमेश जोशी

१८ अगस्त १९४२ को चिड़ावा, राजस्थान में जन्म. राजस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. और रीजनल कालेज ऑफ एज्यूकेशन भोपाल से बी.एड., पोरबंदर से पोर्ट ब्लेयर तक घुमक्कड़ी, प्राथमिक शिक्षण से प्राध्यापकी करते हुए केन्द्रीय विद्यालय जयपुर से सेवानिवृत्त. संप्रति : अमरीका में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वा' के प्रधान संपादक. मूलतः व्यंग्यकार, गद्य-पद्य की पाँच पुस्तकें प्रकाशित.

संपर्क : 4758, DARBY COURT STOW, OH-44224 U.S.A. Email : joshikavirai@gmail.com

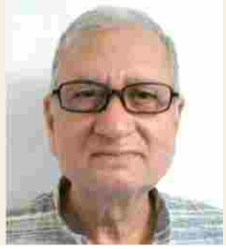

एक

उनका साया जहाँ-जहाँ पर
तिनका तक ना उगा वहाँ पर

अपना नाम लिखे दाने को
ढूँढ़ा जाने कहा-कहाँ पर

दुनिया का मालिक है तो फिर
क्यूँ ना आता अभी यहाँ पर

दिल में है तो दिल को पढ़ ले
हम ना लाते बात ज़ुबाँ पर

गुल को भी तो खिलने की ज़िद
क्यूँ सारे इलज़ाम खिज़ाँ पर.

■

दो

चाहे रस्ते काले हों
आँखों में उजियाले हों

मन में आग जलाए रख
लाख ज़ुबाँ पर ताले हों

शंका के तूफानों में
हाथ-हाथ में डाले हों

चक्रव्यूह में घुसने के
रस्ते देखे-भले हों

पैकिंग चाहे उनकी हो
नुस्खे अपने वाले हों

दौलत की इस भगदड़ में
कुछ पल बैठे ठाले हों

मक्कारी पहचान मगर
सपने भोले-भले हों

एक दिया रखने भर को
दीवारों मे आले हों.

■

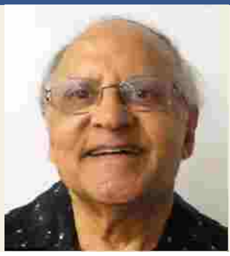

विजय निकोर

दिसम्बर १९४१ में जन्म. १९४७ के बँटवारे में दिल्ली आये. १९६५ से अमेरिका में निवास. हिन्दी और अंग्रेज़ी में अनेक रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. कवि सम्मेलनों में नियमित रूप से भाग लेते हैं.

सम्पर्क : vijay3@comcast.net

कविता

मौन

तुम्हारी याद के मन्द्र-स्वर
धीरे से बिंध गए मुझमें
कहीं सपने में खो गए
और मैं किंकर्तव्यविमूढ़
अपने विस्मरण से खीजता
बटोरता रहा रात को
और उस में खो गए
सपने के टुकड़ों को

कोई गूढ़ समस्या का समाधान करते
विचारमग्न रात अँधेरे में डूबी
कुछ और रहस्यमय हो गयी

यूँ तो कितनी रातें कटी थीं
तुमको सोचते-सोचते
पर इस रात की अन्यमनस्कता
कुछ और ही थी

मुझे विस्मरण में अनमना देख
रात भी संबद्ध हो गयी
मेरे ख्यालों के बगूलों से
और अँधेरे में निखर आया तुम्हारा
धूमिल अमूर्त-चित्र

मै भी तल्लीन रहा कलाकार-सा
भावनाओं के रंगों से रंजित
इस सौम्य आकृति को सँवारता रहा
तुमको सँवारता रहा

गूगल से साभार

अचानक मुझे लगा तुम्हारा हाथ
बड़ी देर तक मेरे हाथ में था
और फिर पौ फटे तक जगा
मै देखता ही रहा
तुम्हारे अधखुले ओठों को
कि इतने वर्षों की नीरवता के उपरान्त
इस नि:शब्द रात की निस्तब्धता में
शायद वह मुझसे कुछ कहें
शायद वह मुझसे
कुछ तो कहें.

■

अमिताभ पाण्डेय 'शिवार्थ'
ग्वालियर में जन्म. जयशंकर प्रसाद, मैथलीशरण गुप्त, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य आदि की रचनाओं ने हिंदी प्रेमी बनाया एवं साहित्य-सृजन को प्रेरित किया. सम्प्रति - यूनाइटेड किंगडम में सूचना-प्रौद्योगिकी क्षेत्र में कार्यरत.
सम्पर्क : pandeyamitabh@yahoo.com

प्रकृति के साथ

सहस्त्र पुष्प पल्लवित सा, भावों का मृदुहास
हिमगिरी हिय प्रकृति में, कोटि-कोटि उल्लास

अभिनव शशि क्षीर-प्रभा, दर्पण है जलवान
कुसुमासव नेह निचोड़े, हिमगिरी के परिधान

ध्रुवनंदा की कलकल, और विहंग के गान
क्लांत पथिक पग-पंकज, देते नूतन प्राण

उदित-मुदित सुर भूमि, देती है आभास
हिमगिरी हिय प्रकृति में, कोटि-कोटि उल्लास.

■

समर्थ के आश्रय में

ढूँढ़ता हूँ
शब्दों में खोई अपनी कविता को

मूल अर्थ के लिए
संजोये थे शब्द-शब्द मैंने
उन्हीं शब्दों के आड़े-तिरछे स्वरूप में
खोई है कविता मेरी

मैंने सोचा था
भावना के प्रवाह से
सींचूगा खेत तन के
बुझाऊंगा प्यास मन की
मगर
भावना के प्रवाह में
डूब के बह गयी है कविता मेरी

कविता किन्तु, मरती नहीं
अर्थ तक, तरती नहीं

समर्थ के आश्रय में
बहती रही, चलती रही
बुनती रही, बनती रही
गढ़ती रही, ढलती रही,
बीज-सम गलती रही

फिर शब्द गौण हो गए
और अर्थ ही बाकी रहा

सम अर्थ में
घुल कर विलीन हो गयी
कविता मेरी.

■

रेखा मैत्र

जन्म बनारस में. सागर विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम.ए. किया. मुंबई विवि से टीचर्स ट्रेनिंग में डिप्लोमा. अमरीका में बसने के बाद गवर्नेस स्टेट यूनिवर्सिटी से ट्रेनिंग कोर्स किए. मलेशिया भी रहीं और यहीं से कविता-लेखन शुरू हुआ. फिलहाल अमरीका में हिंदी भाषा के प्रचार-प्रसार से जुड़ी साहित्यिक संस्था 'उन्मेष' के साथ सक्रियता से जुड़ी हैं. प्रकाशित कविता संग्रह : पलों की परछाइयाँ, मन की गली, उस पार, रिश्तों की पगडंडियाँ, मुट्ठी पर धूप, बेशर्म के फूल। अधिकांश कविताएँ बंग्ला और अंग्रेजी में अनुवादित तथा अमेरिका के हिंदी कवियों की प्रकाशित पुस्तक 'मेरा दावा है' और 'प्रवासिनी के बोल' में भी रचनाएँ सम्मिलित.

संपर्क : 12920, summit ridge terrace, Germantown, MD. email : rekha.maitra@gmail.com

कविता

ज़ख्मी शेर

तंज़ानिया का रेगिस्तान
आस-पास न कोइ छाँव
न कोइ जलाशय
एक ज़ख्मी शेर
हमारी जीप के पास!

अजीब-सा मंज़र
न उसकी आँखों में हिंसा
न हमारी आँखों में डर!

जंगल के राजा को
किसने लहूलुहान किया?
पूछे बिना रहा नहीं गया
गाइड ने बताया
शेरनी के लिए
लडाई में हारे हुए
बूढ़े शेर को यूं ही
देशनिकाला होता है
कुदरत का कानून ही है!

बूढ़ा गाइड कुछ ऐसे बोला
जैसे वो भी अपनी जवानी में
जंगल का राजा रह चुका हो!

■

अफ्रीका के जंगल

अफ्रीका के जंगलों के
सफ़र की तैयारी है
जंगली जानवरों को
खुले घूमने की आज़ादी है
और हमें दरवाजे-खिड़की
बंद किये क़ैद में रहना है!

कुछ अजब-सा नज़ारा होगा
आदमी जानवरों-सा
पिंजरे में बंद
और जंगली जानवर
निश्चिन्त घूमते
सैर करते हुए!

■

श्रीमती आशा मोर

जन्म : २५ अक्टूबर १९६० में झाँसी, उ.प्र., शिक्षा : बी.एस-सी., २००२ में ट्रिनिडाड अंतरराष्ट्रीय हिंदी सम्मेलन तथा २००३ में सूरीनाम में सातवें विश्व हिंदी सम्मेलन में भाग लिया. पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित. सम्प्रति : मैनेजिंग डायरेक्टर सेन्ट क्लैएर, एम. आर.आई. सेन्टर, ट्रिनिडाड और टोबेगा.

सम्पर्क : asha.mor1@gmail.com

अनाथाश्रम में बच्चा

हमें इस घर में रहना अच्छा नहीं लगता
आँगन है, छत है, दरवाजा है, चारदीवारी है
आँगन में एक झूला भी है लटकता
फिर भी यह घर अच्छा नहीं लगता

नहलाने को, खाना देने को आंटी हैं
यूनिफ़ार्म, नाश्ता, खाना, दूध
समय पर सभी है मिलता
फिर भी यह घर अच्छा नहीं लगता

समय पर सोना, समय पर उठना
समय पर स्कूल जाना और होमवर्क करना
समय पर टीवी देखने को भी मिलता
फिर भी यह घर अच्छा नहीं लगता

खेलने को खिलौने भी हैं
बहुत सारे हमउम्र दोस्त भी हैं
पर यहाँ नहीं हैं, मेरे माता-पिता
इसलिए यह घर हमें अच्छा नहीं लगता.

■

सकारात्मक सोच

आज अचानक उनका आना रद्द हो गया
और हम निराश हो गए
जितने मंसूबे बनाए थे, दो हफ्तों में
सब धराशायी हो गए

दिमाग ने कुछ सकारात्मक सोचने को
प्रोत्साहित किया
और मन में कुछ उमंग का
प्रवाह हुआ

दिल उदास था
लेकिन दिमाग ने साथ दिया
मन के किसी कोने में
थोड़ा-सा आराम दिया

दिमाग ने कहा, अरे पागल मन
याद कर वह बीते दो हफ्ते
जो प्रिय के आने की खुशी में
बिता दिये खुशी-खुशी

कौन-सा पलड़ा ज्यादा भारी है
न आने का दुख
या उनके आने की खुशी में
बिताए वो खुशगवार दो हफ्ते

मन को दिमाग की सोच पर
असीमित गर्व हुआ
और मन ने दिमाग को
दिल से नमन किया.

■

डॉ. सुभाष शर्मा

१९५१ में जलालाबाद, कन्नौज में जन्म. बी.ई. मेकेनिकल, एम.टेक. आईआईटी, दिल्ली तथा क्वींसलैंड यूनिवर्सिटी ऑफ टेक्नोलोजी, आस्ट्रेलिया से पीएचडी. आईआईटी, दिल्ली, अमेरिका एवं योरोप के अनेक विश्वविद्यालयों में अध्यापन. शोधकार्य के उपरांत आस्ट्रेलिया में बस गये. कविता लिखते हैं एवं मेलबर्न शहर में 'साहित्य संध्या' के नाम से कवि गोष्ठियों का आयोजन. ऑस्ट्रेलिया में रेडियो, टेलीविजन पर आयोजित कवि गोष्ठियों में शिरकत. ऑस्ट्रेलिया के ११ हिन्दी कवियों के कविता संग्रह 'बूम रैंग' में सह-सम्पादक. सम्प्रति - सेन्ट्रल क्वींसलैंड यूनिवर्सिटी में मेंटीनेंस मैनेजमेंट विभाग के अध्यक्ष हैं.

सम्पर्क : sharmalog@gmail.com

कविता

दिवाली

दीपक चारों और जल रहे दीपों का संसार
दीवाली है मिष्ठानों और दीपों का त्यौहार

लक्ष्मी माता द्वार खड़ीं जाओ दरवाजा खोलो
नया काम अब शुरू करो और जय गणेश की बोलो
धन दौलत का लेन-देन और शुरू करो व्यापार
दीवाली है मिष्ठानों और दीपों का त्यौहार

मिष्ठानों के ढेर लगाओ आतिशबाजी छोड़ो
लक्ष्मीजी गणेशजी सरस्वती हाथ सभी के जोड़ो
घर-घर मिष्ठानों को बांटो आज यही व्यवहार
दीवाली है मिष्ठानों और दीपों का त्यौहार

गली-गली बाजार द्वार सब सजे हुए क्या सुन्दर
थाल सजे पूजा के देखो जाकर हर एक मंदिर
तुम भी पूजा थाल सजाकर हो जाओ तैयार
दीवाली है मिष्ठानों और दीपों का त्यौहार

उजले कपड़े उजले आँगन चमक रहे घर द्वार
खील बताशों और पटाखों के दिखते अम्बार
घर-घर पर कंदील लटकते घर घर बंदन बार
दीवाली है मिष्ठानों और दीपों का त्यौहार

दीन दुखी बिछड़े पिछड़े मित्रों को लाओ घर पर
भूल गए थे भाग दौड़ में स्नेह लुटाओ उन पर
परम पिता की कृपा हुयी है सब पर आज अपार
दीवाली है मिष्ठानों और दीपों का त्यौहार.

■

काग़ज़ का रावण

अन्दर का रावण फूंको कागज़ का नहीं जलाओ
इस बार विजयादशमी पर तुम भी साहस दिखलाओ

गली गली कूचे-कूचे में रावण आज उगा है
कुम्भकरण की नींद खुली है वह भी आज जगा है
तुम भी मन के कुम्भकरण को अपने आज जगाओ

रावण की नाभी में अमृत रावण नहीं मरा है
भेद कौन खोलेगा उसका जन-जन आज डरा है
लड़ें अकेले राम विभीषण तुम्हीं आज बन जाओ

चतुर चालवाला रावण और छद्मवेश चतुरारी
नेत्र तीसरा आज खोल कर बन जाओ त्रिपुरारी
राम आज बनबास गए हैं तुम्ही राम बन जाओ

रावण घुसा हुआ है मन में इस रावण को फूंको
रामबाण संधान करो और आज नहीं तुम चूको
आज राम के सेवक बन कर हनुमान बन जाओ.

■

शुभ्रा चतुर्वेदी
सम्पर्क : chaturvedi.shubhra@gmail.com

तुम्हारा इंतज़ार

तुम्हारा इंतज़ार है
आज से नही बरसों से
हर मौसम, हर साल, हर मौके पे

गर्मी आई, फिर सावन-भादों
सब आके चले गये
अपने-अपने नियम अनुसार

तुम किस मौसम का इंतज़ार कर रहे हो?
किस नियम को मानते हो?
कहाँ हो?
क्यूँ हो दूर, जुदा, छुपे-छुपे
गुमनाम?

क्यूँ नही है तुम्हारा
कोई रूप कोई रंग, कोई चाल, कोई ढंग

क्या तुम एक एहसास हो?
या एक सपना?
या फिर सिर्फ़ एक इच्छा
जो कि दिल के किसी कोने से
कभी कबाद आवाज़ देती है

कौन हो तुम?
कैसे दिखते हो?
गर रास्ते में मिले कभी
तो कैसे पहचाने तुम्हें?

क्या गुमशुदा होने की रपट लिखाए?
मगर कैसे?
न कोई नाम, न पता, न तस्वीर
कुछ भी तो नही है मेरे पास

और अभी तो तुम्हें पाया ही नहीं
अपनाया ही नहीं
तो खोए कैसे?
रपट लिखवाएँ कैसे?

जो अपना हो और जुदा हो जाए
उसका शोक मानते हैं
मगर तुम्हारा शोक मनाएँ कैसे?

क्योंकि अभी तो तुम्हे पाना है
अपनाना है?
क्योंकि अभी भी
तुम्हारा इंतज़ार है?

■

नीरज गोस्वामी

अगस्त १९५० को जम्मू में जन्म. अंतरजाल की लगभग सभी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में ग़ज़लें प्रकाशित. पेशे से इंजीनियर. अनेक विदेश यात्राएं कर चुके हैं. सम्प्रति - भूषण स्टील मुंबई में वाइस प्रेसिडेंट के पद पर कार्यरत.

सम्पर्क : neeraj1950@gmail.com

शायरी की बात

वक्त अच्छा भी आएगा!

बहुत कम शायर हुए हैं जिनकी ग़ज़लों को किसी ने गाया है. ग़ालिब, साहिर. मजरूह, जावेद अख्तर और गुलज़ार जैसे शायरों के कलाम अगर लोगों के दिलों में अब भी घर किये हुए हैं तो इसकी वजह सिर्फ ये नहीं है कि ये बेहतरीन शायर थे वजह ये भी है कि इन्हें जन मानस तक पहुँचाने का काम बहुत से ग़ज़ल गायकों ने भी किया है. लोग पढ़ें भले ही न लेकिन ग़ज़लों को सुनते जरूर हैं. आज जिस शायर का जिक्र कर रहा हूँ उसकी ग़ज़लें इंसानी सरहदों को अंगूठा दिखाती हुई हर ग़ज़ल प्रेमी की अज़ीज़ बन गयीं. पाकिस्तान में जन्में और ग़ुलाम अली साहब की आवाज़ से दिलों पर राज करने वाले उस अजीम शायर का नाम है नासिर काज़मी.

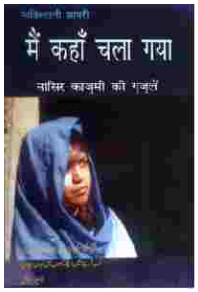

अपनी धुन में रहता हूँ / मैं भी तेरे जैसा हूँ

औ पिछली रुत के साथी / अब के बरस मैं तनहा हूँ

ऐसी एक नहीं अनेक ग़ज़लें हैं जिन्हें ग़ुलाम अली साहब ने अमर कर दिया है या यूँ कहूँ जिनको गाकर ग़ुलाम अली साहब अमर हो गये.

दिल में इक लहर सी उठी है अभी
कोई ताज़ा हवा चली है अभी
भरी दुनिया में जी नहीं लगता
जाने किस चीज़ की कमी है अभी
वक्त अच्छा भी आएगा 'नासिर'
ग़म न कर ज़िन्दगी पड़ी है अभी

अफ़सोस अच्छे वक्त के इंतज़ार में 'नासिर' साहब सिर्फ सैंतालीसवें बरस में दुनिया से कूच कर गये. उनका दीवान उनकी मौत के कुछ महीनों बाद प्रकाशित हुआ और उसने उर्दू जगत में ऐसी धूम मचाई जिसकी मिसाल नहीं मिलती. उनके सिर्फ तीन ग़ज़ल संग्रह ही प्रकाशित हुए हैं और उन्हीं तीनों ग़ज़ल संग्रह की चुनिन्दा ग़ज़लों को 'सुरेश कुमार' जी ने संकलित किया है 'मैं कहाँ चला गया' किताब में.

नासिर साहब की शायरी की सबसे बड़ी खूबी है उसका सादापन. आम बोल चाल की भाषा में वो ऐसे शेर कह जाते हैं की मुंह हैरत से खुला का खुला रह जाता है :

आज देखा है तुझको देर के बाद
आज का दिन गुज़र न जाए कहीं
न मिला कर उदास लोगों से
हुस्न तेरा बिखर न जाए कहीं

अब उनका कमाल देखिये छोटी बहर की इस ग़ज़ल में और तालियाँ बजाइए उनकी याद में.

कड़वे ख़्वाब ग़रीबों के / मीठी नींद अमीरों की
रात गये तेरी यादें / जैसे बारिश तीरों की
मुझसे बातें करती है / ख़ामोशी तस्वीरों की

जो लोग उर्दू-हिंदी को लेकर बवाल मचाये रहते हैं उनकी शान में पेश कर रहा हूँ 'नासिर' साहब के ये अशआर ताकि वो समझें की ग़ज़ल में ज़बान ही सब कुछ नहीं बात कहने का सलीका सबसे अहम् है.

> नासिर साहब की शायरी की सबसे बड़ी खूबी है उसका सादापन. आम बोलचाल की भाषा में वो ऐसे शेर कह जाते हैं कि मुंह हैरत से खुला का खुला रह जाता है.

फिर सावन रुत की पवन चली, तुम याद आये / फिर पत्तों की पाज़ेब बजी, तुम याद आये

फिर कूँजें बोलीं घास के हरे समंदर में / रुत आई पीले फूलों की, तुम याद आये

फिर कागा बोला घर के सूने आँगन में / फिर अमृत रस की बूँद पड़ी, तुम याद आये

भला हो डायमंड पाकेट बुक्स का जिन्होंने इस अनमोल खजाने को हम तक पहुँचाने के लिए हमसे मात्र ७५ रु. की ही दरख्वास्त की है. ये मुफ्त में हीरे मिलने जैसी बात हो गयी. इस संग्रह में 'नासिर' साहब की लगभग वो सभी ग़ज़लें हैं जिन्होंने ग़ुलाम अली साहब का सितारा बुलंदियों पर पहुंचा दिया. ▪

कुसुम नैपसिक

बस्ती, उत्तरप्रदेश में जन्म. जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम.ए., एम.फिल. और पीएच.डी. की उपाधि. हिंदी पत्रकारिता में पोस्ट ग्रेडूएशन. स्टार टॉक हिंदी अध्यापन कार्यक्रम में प्रशिक्षण लेकर कालोराडो, बोल्डर में 'मुख्य हिंदी अध्यापिका' के तौर पर हाईस्कूल के छात्रों को पढ़ाया.

सम्पर्क : ५१७२ बकिंघम रोड, बौल्डर, कालोराडो-८०३०१, अमेरिका. ईमेल - kusumknapczyk@gmail.com

इमरती

महिंदर के ब्याह को दस साल हो गए थे, उसकी कोई संतान नहीं हुई. लेकिन सीधा-सादा महिंदर अपनी छोटी-सी दुनिया में मगन था. उसे किसी से कोई शिकायत नहीं थी, जिससे भी मिलता खुशी से मिलता. उसके मिलनसार और खुशदिल स्वभाव ने उसे सबका दोस्त बना दिया था. गाँववालों में उसका बहुत आदर-सम्मान था. महिंदर का ब्याह अम्मा-बाबूजी की मर्ज़ी से ही हुआ था. ठोस कद-काठी का महिंदर सुंदर तो था ही, उसका रंग दूध की तरह झक-झक सफ़ेद था, किसान होने के बावजूद उसके कपड़े हमेशा साफ़ सुथरे रहते.

महिंदर की औरत नेक स्वभाव की थी लेकिन रूप-रंग देते हुए भगवान ने अपने हाथ खींच लिए थे. कोयले की तरह काली, दुबली-पतली, ठिगनी इमरती के चेहरे को देखकर काले बंदर की याद हो आती जिसके दांत दूधिया चमक लिए ऐसे लगते जैसे रात के सन्नाटे में चमकते हुए जुगनू. सुबह से शाम तक कामों में उलझी हुई इमरती सदा खुश रहती और सबसे मेल-मिलाप रखती. वह दुखी तभी होती जब गाँव-गोतिन वाले शादी-ब्याह और बच्चे होने पर उसे बुलाने से चूक जाते. ख़ैर जो भी हो इमरती के लिए यही बहुत था कि महिंदर के साथ उसकी ज़िन्दगी सुख-शांति से चल रही थी.

इस साल बारिश अच्छी हुई तो फसल भी लहलहा उठी. इसी सुख से लहालोट इमरती ने आज दो-दो तरकारियाँ बनाईं और पुदीने की चटनी के साथ रोटी की पोटली लेकर खेत की ओर जाने को तैयार हुई तो किसी ने आवाज़ लगाई 'महिंदर बाबू हैं क्या?' इमरती सकुचाई-सी बाहर आई– बोली 'वो तो खेत गए हैं.' इस पर उस आदमी ने कहा, 'हरिया को सांप ने काट लिया है. झाड़-फूँक चल रही है पर बचना मुश्किल लगता है. चाची ने महिंदर बाबू को बुलवाया है.' 'च-च' करती इमरती के आंसू निकल आये. बोली, 'भैया,

> सुमित्रा की आँखें नीचे झुकी हुई थीं. वहीं इमरती उसे बिटर-बिटर ताक रही थी और आँखों के कोरों से झर-झर आंसू गिराए जा रही थी. उसे बद्दुआ देना चाहती थी लेकिन उसकी हालत देखकर उसके हलक़ से एक शब्द न फूटा.

मैं इनको बता दूंगी आप बैठो, मैं पानी लाती हूँ.' 'नहीं, मैं चलूँगा अभी और जगह भी जाना है.' कहके वह चला गया.

इमरती का दिल रो उठा. 'अभी साल भर पहले ही तो गौना हुआ था. इतनी जल्दी कैसे हो गया. पर भगवान् की मर्जी के आगे भला किसका बस?' बुदबुदा के उसने खाना उठाया और खेत की ओर निकल गयी. रास्ते में उसे गोरख की अम्मा, राजिंदर की बहू मिली लेकिन हालचाल पूछकर उसने जल्दी-जल्दी खेतों की राह ली. कोई और दिन होता तो गोरख की अम्मा का बहू-पुराण चटखारे लेकर इत्मीनान से सुनती और अपनी सहानुभूति प्रकट करती लेकिन अभी ठीक समय नहीं था.

महिंदर के पास पहुँचकर उसने सारी बात बताई. महिंदर ने अफ़सोस जताते हुए कहा कि मुझे कल ही वहाँ जाना चाहिए और अगले दिन तड़के बैलों को सानी-पानी देकर वह निकल पड़ा. पिछली बार जब ख़लीलाबाद के लिए

निकला था तो कैसी उमंग थी उसके मन में हरिया के ब्याह की, लेकिन आज मायूसी है.

चार घंटे के सफ़र के बाद, वहाँ पहुँचा तो रोने-चिल्लाने का कोलाहल दूर से ही सुनाई दे रहा था. दुखी मन से अंदर गया तो देखा चाची सुध-बुध खोकर रोए जा रही थीं. हरिया की विधवा सुमित्रा गुड़ी-मुड़ी-सी कोने में बैठी हुई थी. धूप और गर्मी से लथपथ महिंदर ओसारे में मर्दों के साथ जाकर बैठ गया. उसने देखा कि औरतों में सुमित्रा के लिए सहानूभूति और दया के स्थान पर फटकार थी.

बड़ी-बूढ़ियाँ भी यही कह रही थीं, 'अभागी अपने पति को ही निगल गई.' समाज बाँझ और विधवा को कभी नहीं बख्शता. बेचारी सुमित्रा सब-कुछ सुनती रही. उठावन के बाद भी घर में सिसकियों का दौर थमा नहीं था.

सांझ ढलने तक ज़्यादातर लोग अपने-अपने घरों को जा चुके थे. महिंदर भी चलने की सोच रहा था, तभी उसने देखा कि सुमित्रा को उसकी सास ने धक्का देकर घर से बाहर धकेल दिया. वह कुछ कर पाता कि तभी चाची का फ़रमान उसके कानों में सीसे की तरह पिघलने लगा 'तूने तो मेरे बेटे को भी नहीं छोड़ा. अब हम पर दया कर और यहाँ से चली जा.' सुमित्रा के रोने की आवाज़ लगातार तेज होती जा रही थी. महिंदर समझ नहीं पा रहा था कि उसे अपने गाँव के लिए चलना चाहिए या कुछ देर ठहरना चाहिए.

सुमित्रा का भाई जो वहीं था. अपने घर की स्थिति जानते हुए कि वह सुमित्रा को अपने घर नहीं ले जा सकता. जानता था इसकी भाभी इसका हाल इसकी सास से भी बुरा करेगी. वह सास के आगे चिरोरी करते हुए बोला, 'इसमें इस बेचारी का क्या कुसूर. इसे माफ़ कर दो. यह अब कहाँ जायगी? आपके चरणों की सेवा में ही इसका घर-संसार है.'

सास अपने तेवर और कड़े करते हुए बोली, 'अपनी मुसीबत मेरे गले मत मढो. मेरे घर में और भी लोग हैं, मैं और बलि नहीं दे सकती.' 'होनी को कौन टाल सकता है अम्मा' भाई कातर स्वर में बोला.

'कैसे निर्लज्ज भाई-बहन हैं इतना सुनकर भी यहीं खड़े हैं.' सास ने अंदर से ही तेज आवाज़ में कहा.

भाई ने कुछ देर बहन के आंसू पोंछे पर फिर अपनी बेबसी दिखाते हुए उससे आँखों-आँखों में माफ़ी मांग ली. बहन ने भी उसे माफ़ कर मुक्त कर दिया.

भाई के जाने के बाद सुमित्रा अकेली सास के कोप का भाजन बनने के लिए रह गई. सास ने दरवाज़ा खोला और दहाड़ते हुए बोली 'अब मेरी चौखट पर बैठकर क्या असगुन कर रही है. निकल यहाँ से.'

सुमित्रा ने उसके पांव पकड़ लिए. पर बड़ी बेदर्दी से उसे धकियाते हुए सास ने आँगन के किनारे धकेल दिया. धूल-भरे गलियारे में पड़ी हुई सुमित्रा केंचुए की तरह सिकुड़ने लगी. उसके भीतर एक खालीपन आ गया रोते-रोते उसकी आँखें फूल गयीं थीं. वह वहाँ काफी देर से पड़ी हुई थी उसे कुछ होश ही नहीं था.

महिंदर वहीं खड़ा सब देख रहा था जब वह चलने लगा तो न जाने उसके मन में क्या आया कि उसने सुमित्रा की बांह पकड़ी और खींचते हुए अपनी बैलगाड़ी में बैठा दिया. उसे आश्चर्य था कि इतना साहस उसे कहाँ से मिला था?

शायद सुमित्रा के दर्द और बेबसी ने ही उसे यह साहस दिया. उसे विश्वास था कि वह ठीक कर रहा था. वह धीरे-धीरे गाड़ी हांकने लगा. सुमित्रा पीछे बैठी सोचती रही कि अब क्या होगा? लेकिन उसे इतना तो ज़रूर मालूम था कि जो हुआ उससे बुरा उसके साथ नहीं हो सकता.

दोनों चुपचाप थे लेकिन प्रश्नों की झड़ी दोनों के मन में लगी हुई थी. महिंदर सोच रहा था सबसे ज़्यादा कुसूरवार तो वह इमरती का होगा. वह क्या सोचेगी? फिर उसने सोचा वह पूछेगी तो सब सच बता दूंगा आखिर इसमें मैंने क्या गलती कर दी? फिर उसके मन ने कहा 'गलती तो हुई है पर वह प्यार से समझाएगा फिर इस विधवा के लिए उसके मन में पाप नहीं, दया उपजी थी.'

आख़िर में, उसने अपने मन को समझाया कि 'क्यों डरे वह किसी से, वह मर्द है, जो वह चाहेगा वही करेगा.' इस सोच ने उसे काफ़ी हिम्मत बँधायी

गाँव बहुत दूर नहीं था फिर भी पहुँचते-पहुँचते रात हो आई. चूल्हे से उठते कच्चे-पक्के खाने की भीनी-भीनी गंध भूख बढ़ा रही थी. लालटेन के ललछहुं उजाले में कुछेक आकृतियाँ दिखाई दे रही थीं. तभी महिंदर को इमरती की याद हो आई. बेचारी अकेले इंतज़ार कर रही होगी. उसने सोचा और उसके मन में जल्द से जल्द घर पहुँचने की हूंक उठने लगी.

सुमित्रा गुड़ी-मुड़ी-सी कोने में बैठी हुई थी. धूप और गर्मी से लथपथ महिंदर ओसारे में मर्दों के साथ जाकर बैठ गया. उसने देखा कि औरतों में सुमित्रा के लिए सहानूभूति और दया के स्थान पर फटकार थी.

> इमरती और सुमित्रा का फिर से आमना-सामना हुआ. वे दोनों अब भी चुप थीं. सुमित्रा हर स्थिति के लिए तैयार थी. उधर इमरती के गले तक कई प्रश्न आते पर मुंह तक आते-आते बिला जाते.

जैसे ही बैलगाड़ी घर के पास पहुँची, इमरती बाहर निकल आई. उसे देखते ही बोली, 'आ गए' बैलों पर हाथ फेरते हुए, वह फिर बोली, 'खाना लगा देती हूँ थक गए होंगे.' निःशब्द दोनों अंदर गए उसने पहले उसके हाथ-पैर धुलवाए, फिर खाना लगाने चौके में घुस गयी. महिंदर ने कहा 'एक थाली और लगा दो.' यह सुनकर इमरती की नज़रें बाहर चली गयीं. वहाँ कोई न दिखा.

हँसते हुए बोली 'और कौन है खाने वाला? आपको भी ठिठोली सूझती है इस उम्र में.' महिंदर बाहर गया और सुमित्रा को ले आया. इमरती का तो सुमित्रा को देखते ही जी बैठ गया. तीनों चुपचाप कुछ पल वहीं खड़े रहे. तभी महिंदर ने कहा, 'ये अब यहीं रहेगी.' इमरती को तो काटो खून नहीं. उसने पूछा, 'किस हक़ से?' इस पर महिंदर बिना कुछ कहे चुपचाप रसोई में बैठ गया. सुमित्रा अब भी वहीं खड़ी थी. सोचने लगी, 'मैं भी कितनी अभागिन हूँ किसी को सुख नहीं दे सकी. अब इस घर का सुख भी बिखर जाएगा.'

इमरती ने महिंदर का खाना परोस दिया पर हमेशा की तरह उसके पास बैठकर पंखा नहीं डुला रही थी. सुमित्रा जहाँ खड़ी थी, वहीं बैठ गयी. महिंदर खाना खाकर सीधा ओसारे में चला गया. इमरती ने अपने लिए और सुमित्रा के लिए खाना परोसा. दोनों बेआवाज़ देर तक खाना खाती रहीं. सुमित्रा की आँखें नीचे झुकी हुई थीं. वहीं इमरती उसे बिटर-बिटर ताक रही थी और आँखों के कोरों से झर-झर आंसू गिराए जा रही थी. उसे बद्दुआ देना चाहती थी लेकिन उसकी हालत देखकर उसके हलक़से एक शब्द न फूटा.

थोड़ा बहुत खाकर सुमित्रा ने खाना बंद कर दिया. इतनी देर से वह खाने के लिए बैठी थी लेकिन मुश्किल से एक ही रोटी खा पाई थी. भूख तो उसे बहुत थी कल से किसी ने उसे खाने के लिए पूछा नहीं था, पर आज उसका मन अवसाद में इतना डूबा हुआ था कि उसके मन की पीड़ा ने पेट की भूख मार दी थी.

इमरती ने थालियाँ समेट दीं और हाथ धोकर दो कथरियाँ बिछा दीं. सुमित्रा एक कथरी पर सिकुड़ कर बैठ गई. वह रोते-रोते और जागते-जागते इतनी थक गई थी कि जल्दी ही सो गई.

उधर इमरती की आँखों से नींद कोसों दूर थी. फटी-फटी आँखों से वह सुमित्रा को देखे जा रही थी. तभी उसने सोचा मेरे बच्चे तो हुए नहीं, वैसे भी ज़िन्दगी बेकार है. हो सकता है इसके बच्चे हो जाएँ और इस घर में किलकारियां गूंजें. पर फिर उसके मन में विचार आया कि बच्चे इसके होंगे तो पति और बच्चों पर इसका हक़होगा. क्या पता मुझे घर से निकाल दिया जाए. इसी उधेड़-बुन में उसकी आँख लग गई.

सुबह बहुत शांत थे, पर तीनों के मन उतने ही अशांत थे. इमरती को चिंता होने लगी की आस-पड़ोस, नाते-रिश्तेदार सुमित्रा के बारे में क्या कहेंगे. उसने घर की इज़्ज़त बचाने के लिए मनौतियाँ मनानी शुरू कर दी. गाय दुहने के बाद वह रोटियाँ बनाने लगी तभी महिंदर भी उठकर आ गया. दूध रोटी खाकर वह बैलों को लेकर खेतों की ओर चला गया. इमरती और सुमित्रा का फिर से आमना-सामना हुआ. वे दोनों अब भी चुप थीं. सुमित्रा हर स्थिति के लिए तैयार थी. उधर इमरती के गले तक कई प्रश्न आते पर मुंह तक आते-आते बिला जाते.

इमरती गोबर से भरा झौआ उठाये थापने के लिए पिछवाड़े जाने लगी, तभी सुमित्रा ने उसे गोहराया, 'दीदी, मैं क्या काम करूं?' इमरती कुछ ठिठकी फिर बोली, 'तुम आराम करो.' सुमित्रा को इस घर में काफ़ी सुकून मिल रहा

था. ऐसा लगा कि उसने इतने दिनों में पहली बार खुलकर सांस ली है. कुछ देर वह यूं ही बैठी रही फिर उठकर सारे बासन पम्प के पास रख दिए.

चूल्हे की राख से रगड़कर सारे बासन धोकर चमका दिए. कूची लेकर घर को बुहार दिया. इमरती कुछ देर में वापस आई तो घर को क़रीने से लगा देख खुश हुई. पता नहीं क्यों, उस के मन में विचार आया कि वह अकेली नहीं है. फिर भी सुमित्रा से वह ज़्यादा हिलना-मिलना नहीं चाहती थी. जैसे इश्क़ और मुश्क नहीं छिपता वैसे ही गाँव में कोई बात नहीं छिपी रह सकती. सुमित्रा के बारे में धीरे-धीरे पूरे गाँव में सब को ख़बर हो गई. दबी-ज़बान में सब ठिठोली करते कि 'राजा दसरथ की दूसरी तो आ गई तीसरी कब आएगी?'

कुछ लोगों ने इमरती के कान भरने शुरू कर दिए, 'अरे बहन, तुम कितनी भोली हो. पति दूसरी ले आया और तुमने उसे रख लिया. कहीं उसके बच्चे हो गए तो तुम कहाँ जाओगी?' इमरती खुद भी इन प्रश्नों पर विचार कर चुकी थी किन्तु वह कुछ नहीं कर पा रही थी. धीरे-धीरे उसने लोगों से कटना शुरू कर दिया. इस तरह कुछ ही दिनों में उड़ती हुई मिट्टी बैठ गई. सब कुछ सामान्य हो गया था आख़िर कितने दिन कोई एक वही सुमित्रा का चरित पुरान बघारता और चर्चाएँ भी तो करनी ज़रूरी थीं. जिसमें पंडिताइन के घर नाऊ का आना-जाना मुख्य था जितने लोग उतनी बातें. कोई कहता हमने तो पंडाइन और नाऊ को हाथ में हाथ डाले देखा है तो कोई कहता गले डाले. ख़ैर बात कुछ भी हो. सुमित्रा की चर्चा कम हो गई थी.

सुमित्रा को आये भी दो महीने हो गए थे. जिंदगी की गाड़ी दुबारा पटरी पर आ गई थी. इधर इसी बीच इमरती को रोटी बनाते-बनाते उबकाई आ गई और तबियत ढ़ीली लगने लगी. रज्जू मौसी दौड़ी आईं और इमरती की नब्ज़ पकड़ते हुए महिंदर से बोलीं, 'मुंह मीठा कराओ, तुम बाप बनने वाले हो.' यह सुनते ही इमरती की रगों में खून तेज़ी से दौड़ने लगा. उसका चेहरा लाज और ख़ुशी से चमक उठा. सुमित्रा ने ख़ुशी-ख़ुशी उसी दिन से घर का सारा काम अपने कन्धों पर ले लिया और इमरती की जी-जान से सेवा करने लगी जैसे उसकी सगी हो.

गाँव वालों की नज़रों में सुमित्रा शुरू से ही कुलछनी विधवा थी जो घर-उजाड़ने ही वहाँ आई थी. इमरती अब भी सुमित्रा से बहुत बात नहीं करती थी जैसे उसने अभी भी उसे माफ़ नहीं किया था.

बच्चा होने की ख़ुशी ने इमरती को सातवें आसमान पर पहुँचा दिया था. उसका छिनता हुआ पत्नी अधिकार वापस उसकी झोली में आ गिरा था. वह बहुत खुश रहने लगी. गोदभराई की रस्म हुई तो उसने सभी को न्यौता भेजा.

> *'मुंह मीठा कराओ, तुम बाप बनने वाले हो.' यह सुनते ही इमरती की रगों में खून तेज़ी से दौड़ने लगा. उसका चेहरा लाज और ख़ुशी से चमक उठा.*

लाल रंग की बूटे वाली साड़ी और साज-सिंगार उस पर आज ग़जब लग रहा था. पहले सतनारायण की कथा कराई गई फिर औरतों का गाना-बजाना ढोलक की थाप पर देर तक चलता रहा. नीलू की अम्मा ने जब चम्मच से ढोलक की ताल मिलाई तो सरोज की अम्मा ने गाना शुरू किया.

'जच्चा रानी का मन बड़ा भारी रे.

उसे जामुन मंगा दो कारी कारी रे.'

औरतें खिलखिलाती और लजाती भी जातीं. इमरती के मन को सोहर के गीत गुदगुदा रहे थे.

जिंदगी में इससे अच्छा कोई दिन न आया था इमरती के जीवन में. सुमित्रा सुबह से ही काम में जुटी थी इतने लोग आने-जाने वाले और आख़िर सब कुछ उसी को तो देखना था. परसाद बनाना, बांटना, पानी पिलाना सभी कुछ उसी के ज़िम्मे था. अब जब लगभग सब काम ख़त्म होने वाला था तब उसे कुछ फ़ुर्सत हुई तो वह भी गायन-मण्डली में आकर बैठ गई. सभी उसे मुड़-मुड़ कर देखने लगीं. तभी उसे अपनी ग़लती का अहसास हो गया. रज्जू मौसी ने कोहराम मचाते हुए कहा, 'इस कुलछनी विधवा को यहाँ किसने आने दिया? उठ यहाँ से, जल्दी निकल.' तभी गोरख की अम्मा ने कहा, 'इसकी तो परछाई भी यहाँ नहीं पड़नी चाहिए.'

सुमित्रा मारे भय के थर-थर कांपने लगी जैसे अभी चारों ओर से पत्थर बरसने वाले हों. वैसे शब्दों का वजन, पत्थर से अधिक घाव कर रहा था. वह उठकर भागने ही वाली थी कि इमरती ने तेजी के साथ कहा, 'सुमित्रा तुम कहीं नहीं जाओगी. अब यह मेरी अपनी है मेरे घर में इसे मेरा आदमी लाया है कोई इसे बाहर नहीं निकल सकता.' वहाँ बैठी औरतों ने सुना तो कानों पर हाथ धर दिए. रज्जू मौसी को देखते हुए इमरती ने कहा 'कुछ महीने पहले तो मैं भी कुलछनी बाँझ थी. औरत होकर तुम सब कब दूसरी औरत का दर्द समझोगी?' कहते ही उसकी आँखों से आंसू बहने लगे.

सभी औरतें घूर-घूर कर उसे देखने लगीं जैसे कोई अजीबोग़रीब बात कही गई हो. 'कलजुग है, भाई घोर कलजुग है'

कहते हुए रज्जू मौसी उठ गईं और सभी औरतें उसके पीछे एक-एक करके चली गईं.■

काव्य संध्या एवं व्यंग्य वाचन गोष्ठी का आयोजन

विगत दिनों मोर्रिस्विल्ले, नॉर्थ कैरोलाईना में हिन्दी प्रेमी डॉ. सुधा ओम ढींगरा के सौजन्य से काव्य संध्या एवं व्यंग्य वाचन गोष्ठी का आयोजन किया गया. भारत से प्रतिष्ठित व्यंग्यकार एवं कवि डॉ. हरीश नवल और उनकी पत्नी डॉ. स्नेह सुधा नवल के सम्मान में यह आयोजन किया गया था. श्रीमती सरोज शर्मा ने गोष्ठी का आरम्भ नवल दम्पत्ति को शाल ओढ़ा कर किया. इस गोष्ठी को दो सत्रों में बाँटा गया था. एक में डॉ. नवल ने व्यंग्य पढ़ा और अपनी कविताएँ सुनाईं. इसी भाग में डॉ. स्नेह सुधा नवल ने भी अपनी कविताएँ सुनाईं. इस सत्र का संचालन सुधा ओम ढींगरा ने किया. दूसरा सत्र स्थानीय कवियों के काव्य पाठन का था. श्रीमती बिंदु सिंह दूसरे सत्र की संचालिका थीं.

डॉ. हरीश नवल ने पहले हिन्दी भाषा के प्रसार को लेकर बात की. फिर उन्होंने व्यंग्य और हास्य की परिभाषा और स्पष्टता बताते हुए श्रोताओं को मन्त्र मुग्ध कर दिया. श्रोता उनके व्यंग्य को सुनते और अनुभव करते-करते एक अलग ही दुनिया से जुड़ गए थे. व्यंग्य के एकदम बाद उन्होंने एक मार्मिक कविता सुना कर गोष्ठी में उपस्थित श्रोताओं को भावुक कर दिया. डॉ. नवल के बाद डॉ. स्नेह सुधा जी ने अपनी छोटी-छोटी कविताओं से बहुत प्रभावित किया. उन्होंने अपनी कविताओं में व्यक्तिगत अनुभवों, स्मृतियों एवं संघर्षों का उल्लेख किया. स्त्री और पुरुष के मूलभूत अन्तर को जो कि पुरुष के विरुद्ध नहीं है बल्कि शक्तियों को परम्परागत प्रतीकों के माध्यम से तुलना की है. डॉ. स्नेह सुधा की गौतम बुद्ध पर लिखी समाज की विसंगतियों पर गहरी चोट करती कविता ने सब को विभोर कर दिया.

साऊथ कैरोलाईना से आए श्री चरणजीत लाल की सरस्वती वंदना से दूसरे सत्र का आरम्भ हुआ और उन्होंने मुक्त छंद की कविता भी सुनाई. कार्यक्रम में भारत से आए कृष्ण लाल मनचंदा भी थे. उन्होंने अपनी बात रखते हुए कहा कि ज़िन्दगी तो अपनी है उसका सदुपयोग करना चाहिए. रमेश शौनक ने अपनी भाषा और भाषांतर की कविताओं मोहित कर दिया. उनकी भाषा के प्रति प्रगाढ़ रुचि और ज्ञान कविताओं में झलकता है. श्रीमती नीलाक्षी फुकन ने अपनी रचनाओं से सब का दिल जीत लिया. विनोद गोयल ने मंच पर हँसी की फुहार फैला दी. उनकी हास्य कविता पत्नी जी की जय-जयकार सुनकर श्रोता हँसी से लोट-पोट हो गए. श्रीमती मीरा गोयल जो कि एक चित्रकार भी हैं और कविता लेखन में भी उनकी अभिरुचि हैं, उन्होंने अपनी कविता 'ब्लूमेर्स' पढ़ी. फिर बारी आई डॉ. अफरोज़ ताज की जिन्होंने अपनी ग़ज़लों से सभा में चार चाँद लगा दिए. डॉ. विजया बापट ने अपनी निजी ज़िन्दगी में हुई घटनाओं पर आधारित कविताओं से मुग्ध किया. उनकी अपने चाचाजी पर लिखी कविता उल्लेखनीय थी.

श्रीमती बिंदु सिंह ने अपनी कुछ कविताओं के बाद 'पेड़' कविता बहुत से लोगों की फरमाइश पर पढ़ी. सभा की समाप्ति की ओर सुधा ओम ढींगरा ने अपनी कविताओं से सभा में उपस्थित लोगों को सोचने पर मजबूर कर दिया. उन्होंने अपनी कविता पतंग, नींद चली आती है, विचार और प्रतिक्षा पढ़ी. हरीश जी ने सब स्थानीय कवियों की कविताओं पर सकारात्मक, समीक्षात्मक टिप्पणियाँ दीं और इसके साथ ही सभा समाप्त हुई. ■

प्रस्तुति : अदिति मजूमदार

गर्भनाल का ताजा ७१वाँ अंक पूरा पढ़ा. बहुत पसंद आया. आपका प्रयास बहुत सराहनीय है. एक दिन ये पत्रिका आसमान की बुलंदियों को स्पर्श करेगी.

भावना कुँवर, ऑस्ट्रेलिया

गर्भनाल एक स्तरीय पत्रिका के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है. इसकी सभी रचनाएँ उत्कृष्ट होती हैं. हिन्दी विरोधी समय में जोर-शोर से हिन्दी की अस्मिता और गौरव वर्धन के लिये गर्भनाल टीम को बधाई.

डॉ. वंदना मुकेश, यू.के.

आपके द्वारा भेजे गये सभी अंक बहुत ही अच्छे एवं हमारे समाज के लिये उपयोगी साबित हो रहे हैं.

अभिषेक सिंह

गर्भनाल का ७१वाँ अंक विचारों तथा भावनाओं का मिश्रित अंक लगा. 'चिंदी-चिंदी होती हिन्दी' में डॉ. अमरनाथ ने हिन्दी के समर्थन में आवाज़ बुलंद की है. चिट्ठी के अंतर्गत डॉ. सुभाष शर्मा द्वारा लिखित अपने मित्र श्याम बिहारी के माध्यम से सभी प्रवासियों की मातृभूमि के प्रति स्नेह भावों से भरी लगी. देवशंकर नवीन ने न्यूयार्क यात्रा का विश्लेषण बड़ा ही खूबसूरती एवं सच्चाईयों की अनुभूतियों के साथ बेबाकी से किया है. नजरिया - 'उधार का सच' में राजकिशोर जी ने सटीक बातें की हैं. मनोज श्रीवास्तव की व्याख्या 'अप्रमेय' में तुलसी के राम के बारे में लोगों की अवधारणाओं को नयी दृष्टि दी है. तेजेन्द्र शर्मा की कहानी फ्रेम से बाहर प्रशंसनीय है. गर्भनाल का सम्पादकीय हमेशा की तरह वैचारिक स्तर पर खरा उतरता है.

सुशील बुद्धकोटि, हिसार

महोदय पिछले दिनों हिन्दी दिवस के अवसर पर एक समाचार-पत्र में आपकी इस पत्रिका के बारे में पढ़ा तब से इसे देखने तथा पढ़ने की इच्छा थी पर समयाभाव के कारण ऐसा संभव नही हो सका. विगत दिनों जब इसकी साईट पर देखा तो लगा कि किसी ने मुझे साहित्य के अनमोल खजाने की चाबी दे दी है. साथ ही अपने आपको कोसता रहा कि कैसे मैं इतने समय तक ऐसी पत्रिका को नही देख पाया. साहित्य के इस महासागर के किनारे पर बैठा हूँ डूबने को तैयार, सोचा डूबने से पहले ही अपने विचार लिख दूं. अभी अक्टूबर- १२ के अंक के शीर्षक एवं कुछ लेखकों का परिचय ही पढ़ पाया हूँ. फिर एक बार ऐसी उम्दा पत्रिका के प्रकाशन के लिए बधाई एवं शुभकामनाएं स्वीकार करें.

विनय मोघे, कोल्हापुर

गर्भनाल पत्रिका का अक्टूबर-१२ अंक देखा. सदा की तरह बेमिसाल है. एक बात तय है कि आप बहुत मेहनत करते हैं. आपकी मेहनत पत्रिका में साफ झलकती है. आपके जज्बे को और आपकी मेहनत को सलाम.

शेर सिंह

गर्भनाल का ७१वाँ अंक भेजने के लिए आभार. अभी तक सम्पादकीय, चिन्दी-चिन्दी हिन्दी, शकुन तथा गीता-सार ही पढ़े हैं. सम्पादकीय में आपने आज स्त्री की बदलती छवि के बारे में बताया है और पुरुष अस्तित्व के भावी खतरों की ओर इंगित करने का प्रयास किया है. इस सबको पढ़कर रोमांचित हो उठना स्वाभाविक है. लगता है कि मातृयुग शायद आने-आने को है. स्त्री की विकासशीलता का स्वागत किया जाना चाहिए.

डॉ. अमरनाथ का लेख तथ्यपरकता और तार्किकता के चलते खासा विचारोत्तेजक है. यह वास्तव में ही हिन्दी के विरुद्ध एक कुचक्र है जो देवनागरी के विरुद्ध तो काफी हद तक सफलता पा ही चुका है. देवनागरी अंकों के विनाश की नींव तो एक तरह से नेहरूजी ही रख चुके हैं. यहाँ नेहरूजी से तात्पर्य व्यक्तिगत है. जहाँ तक मैं समझता हूँ, हमारा विद्वतवर्ग अपने आसपास के लोगों को यह समझाने में अक्षम रहा है कि छोटी बोलियों और हिन्दीतर भाषाओं की अवहेलना करके हिन्दी को विश्वभाषा बनते देखने का सपना निरर्थक है. आवश्यकता वस्तुतः छोटी बोलियों को संवैधानिक मान्यता देने की कम, उन्हें रोज़गारपरक और आयपरक बनाने और बनाए रखने की अधिक है जैसाकि आपने अंगिका का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है.

छुटभैये हों या बड़भैये, आम जनता को नेता/अभिनेता छोटी बोलियों के संवैधानिक मान्यता प्राप्त हो जाने के बाद ऐसी ही फलदायी हो जाने का प्रलोभन देते/बताते हैं. मैंने

> *हमारा विद्वतवर्ग अपने आसपास के लोगों को यह समझाने में अक्षम रहा है कि छोटी बोलियों और हिन्दीतर भाषाओं की अवहेलना करके हिन्दी को विश्वभाषा बनते देखने का सपना निरर्थक है.*

लेख 'अप्रमेयं' गॉड पार्टिकल के संदर्भ में अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टि पाठकों को देता है. ईश्वर को समझने के लिए वास्तव में जिस दृष्टि की आवश्यकता है, उसे आज के तथाकथित धर्मगुरु भी संभवतः समझ नहीं पा रहे हैं, शायद इसलिए कि उनका उद्देश्य उसको समझना है ही नहीं.

पिछले दिनों कहीं पढ़ा था कि उस इलाके के अनपढ़ बच्चे धाराप्रवाह (शायद) फ्रांसीसी बोलते हैं और उधर आने वाले पर्यटकों का मार्गदर्शन करके पैसा कमाते हैं. हो सकता है कि कोई व्यावसायिक कम्पनी बच्चों को फ्रांसीसी सिखाकर बड़ा मुनाफा कमा रही हो. जो भी हो, बात बोली/भाषा को आय का साधन बनाने की है. एकमात्र इसी कारण से अंग्रेजी आज भाषाओं में सिरमौर बनी है. जिन देशों ने इस सत्य को राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़कर देखना सीख लिया है, वे प्रमुख सभी व्यावसायिक विषयों की उच्च शिक्षा अपनी लिपि और भाषा में उन्नत करके अंग्रेजी भाषा और रोमन लिपि से पीछा छुड़ा चुके हैं. भारतीय नेता अभी अर्थ के पीछे भाग रहे हैं इसलिए ऐसे संकल्प की उनमें आज़ादी के समय से ही कमी रही है जो लगातार बढ़ी है. एक बहुत अच्छा लेख पढ़ने के लिए देने हेतु आपको धन्यवाद. शायद कुछ लोगों की आँखें खुलें.

लेख 'अप्रमेयं' गॉड पार्टिकल के संदर्भ में अत्यन्त वैज्ञानिक दृष्टि पाठकों को देता है. ईश्वर को समझने के लिए वास्तव में जिस दृष्टि की आवश्यकता है, उसे आज के तथाकथित धर्मगुरु भी संभवतः समझ नहीं पा रहे हैं, शायद इसलिए कि उनका उद्देश्य उसको समझना है ही नहीं. उनका उद्देश्य वह प्राप्त करना है जिसके त्याग की प्रेरणा वे जनता को दे रहे हैं यानी अर्थ और दैहिक सुख. 'धर्मविज्ञान' विकसित करने वाले इस देश को आज वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्नता की जितनी आवश्यकता है, उतनी शायद किसी अन्य देश को नहीं है. शकुन-अपशकुन से सम्बन्धित लेख भी पाठकों को दृष्टि प्रदान करता है.

बलराम अग्रवाल

गर्भनाल के एक और उम्दा अंक हेतु हार्दिक बधाई. अक्टूबर अंक पिछले अंकों की ही तरह इस बार भी कुछ विशेष मानस पटल पर अपना स्थान बना गया. सबसे पहले ज़िक्र करना चाहूंगी, चिट्ठी; डॉ. सुभाष शर्मा के सन्दर्भ में. पत्र लिखना स्वयं में एक उम्दा कला है और इसमें कोई दो राय नहीं कि डॉ. सुभाष इस कला में सिद्धस्त हैं. पैरों से सर की बढ़ती दूरी में उन्होंने मुझे भी अपने बचपन के भोले और सुहाने दिनों की मनोरम यात्रा करवा दी, इतने बेहतर प्रस्तुति हेतु मैं उनकी आभारी हूँ और उनसे मेरा निवेदन है कि पत्र लेखन की इस कला को जीवित बनाये रखने हेतु वे खूब लिखें.

अब बात मेरे पसंदीदा कॉलम शायरी की बात : नीरज गोस्वामी की, हर बार की तरह इस बार भी ग़ज़लों के संसार से बेहतरीन अभिव्यक्ति चुन के लाने हेतु उनका हार्दिक साधुवाद और ये उस जौहरी को समर्पित जो नायाब हीरा तलाश कर ले आया. संजय ग्रोवर के लफ्ज़ निहायत खालिस और असरदार हैं. गर्भनाल की पूरी टीम को एक शानदार प्रस्तुतीकरण हेतु अभिनन्दन. अगले अंक का इंतजार रहेगा.

पूजा भाटिया 'प्रीत', इंदौर

गर्भनाल का अंक ७१वाँ बहुत प्यारा लगा. 'अपनी बात' बहुत अच्छी लगी. 'चिंदी-चिंदी होती हिंदी' में डॉ. अमरनाथ द्वारा व्यक्त विचार महत्वपूर्ण हैं, त्रिभाषा सूत्र को अमल में लाने पर हिंदी को क्या लाभ-हानि संभावित है, इस दृष्टिकोण से भी विचार किए जाने की अपेक्षा की जाती है.

डॉ. सुभाष शर्मा की चिट्ठी, देव शंकर नवीन का यात्रा वृत्तान्त, नीलम कुलश्रेष्ठ की रचना 'अपराधी जगत में अहिंसा की दस्तक', तेजेंद्र शर्मा से मधु अरोड़ा की बातचीत तथा मुईन शमसी की ग़ज़लें आदि रचनाएँ, जो मैंने पढ़ ली है, सभी स्तरीय लगीं. प्रस्तुति आकर्षक है.

जगदीश चन्द्र ठाकुर

गर्भनाल से भलीभाँति परिचित हूँ. बाकायदा पढ़ा भी है. नवम्बर-२००९ (सं. यतेन्द्र वार्षनी) के पत्रिकावरण पर स्व. नेमिचन्द्र जैन जी की काव्य पंक्तियाँ - 'आगे गहन अँधेरा है, मन रुक-रुक जाता है एकाकी/अब भी है टूटे प्राणों में किसी छवि का आकर्षण बाकी?' देखने को मिली थीं. देखकर बहुत अच्छा लगा था, क्योंकि नेमिजी पर मैंने शोध किया है.

आपसे जुड़कर कुछ नयी चीजें सुनने-सीखने को मिलेंगी.

आनंद पाटील, हिन्दी अधिकारी, तिरुवारूर

गर्भनाल के ताजा अक्टूबर-१२ अंक में डॉ. अमरनाथ जी जो भारतीय हिन्दी परिषद के उपसभापति भी हैं, का लेख

चिन्दी चिन्दी होती हिन्दी, दिल को छूता है प्रारम्भ से अन्त तक. सही कहा है उन्होंने कि विभिन्न बोलियों को राजभाषा का मान देकर हम अपनी ही हिन्दी को कमजोर बना रहे हैं. प्रश्न यह है कि हम बाघ की तरह हिन्दी को देखना चाहते हैं या बकरे की तरह. हिन्दी को शिक्षा में भी अब वो दर्जा नहीं मिल पा रहा है. सीबीएसई के विनीत जोशी ने सीसीए शुरू करके वैसे तो बच्चों के साथ काफी हद तक न्याय करने की कोशिश की है उनके प्रयास सराहनीय हैं, परन्तु एक कमी उन्होंने छोड़ दी कि नवी कक्षा में हिन्दी को वैकल्पिक विषय बना दिया व अंग्रेजी को अनिवार्य. मेरी बेटी ने नवी कक्षा में आकर जब मुझसे पूछा कि मम्मी मैं हिन्दी लूं या संस्कृत तो मैं हैरान रह गई कि ये क्या किया स्कूल वालों ने. हिन्दी को ही वैकल्पिक विषय बना डाला. पहले मैंने उसे समझाया कि तुमसे गलती हो रही है हिन्दी और अंग्रेजी अनिवार्य विषय हैं बाकी में विकल्प होता है. वह बोली मैं सच कर रही हूं अंग्रेजी ही अनिवार्य है परन्तु हिन्दी नहीं. इस बार वो दसवीं बोर्ड में है. उसने संस्कृत लिया है. मुझे इस बात का दुख हो रहा है कि उसकी बोर्ड की अंकतालिका में अंग्रेजी विदेशी भाषा तो होगी पर हिन्दी नहीं. वो हिन्दी से कभी नाता नहीं छोड़े इसलिए मैं हमेशा उसे हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने के लिये प्रेरित करती रहती हूं.

सच तो यही है कि हमारे बच्चे भी भाषा के नाम पर विभाजित हो गये. हम ये नहीं कहते कि भारत के बच्चे, हम कहते हैं कि ये हिन्दी माध्यम के बच्चे हैं और ये अंग्रेजी माध्यम के बच्चे हैं. अब तो हम कहेंगे ये राजस्थानी भाषा के बच्चे हैं ये गुजराती भाषा के और ये बांग्ला भाषा के.

एक और अजीब तथ्य से परिचित हुई हूं. मैं एक कन्ज्यूकर केस लड़ रही हूं, जिला न्यायालय में, जहां मैंने हिन्दी में केस लगाया, निर्णय भी मेरे पक्ष में हुआ जिसे हिन्दी में लिखा गया. चूकि मैं निर्णय से संतुष्ट नहीं थी तो मैं राज्य अदालत में पहुँची जहां हिन्दी में ही मैंने अपील की. पर मेरा केस खारिज हो गया. अब मैं राष्ट्रीय अदालत में जा रही हूं. जब मैंने अपने केस की फाइल जमा करवाई तो उस पर रिमार्क लगाया गया है कि कमियाँ दूर करें. उसमें एक बिन्दु है कि आपने राष्ट्रीय अदालत में रिवीजन पीटिशन तो अंग्रेजी में नियमानुसार सही लिखी है परन्तु पिछली अदालतों के आदेश जो कि हिन्दी में है आपको उसका अंग्रेजी रूपान्तरण जमा करवाना है व जो पूर्व में आपने केस का प्रार्थना पत्र दिया था उसका भी रूपान्तर अंग्रेजी में करके जमा करवाना है व विपक्षी ने जो जवाब हिन्दी में जमा करवाया था उसका भी अंग्रेजी रूपान्तर जमा करवाएँ.

मैं हैरान हूं उस टिप्पणी से. चलो मान लेते हैं कि मैं उसका अंग्रेजी रूपान्तरण कर देती हूं. अगर मैंने एक भी जगह गलत रूपान्तर किया तो अर्थ का अनर्थ नहीं हो जायेगा और सबसे बड़ी बात जो काम हो चुका है उसको मैं दुबारा अंग्रेजी में क्यों रूपान्तरित करूं और जज साहब विदेश से तो हैं नहीं जो हिन्दी न समझ पायें, पर हमने संविधान में प्रावधान ही गलत बना रखे हैं. राष्ट्रीय भाषा हिन्दी पर राष्ट्रीय अदालतों में आपकी फाइल का एक-एक कागज अंग्रेजी में होना चाहिए वरना आपकी अपील स्वीकार नहीं की जायेगी. अभी केस की अपील जरूरी है, अभी तो अंग्रेजी रूपान्तरित करना ही पड़ेगा, परन्तु एक प्रार्थना पत्र तो लगाना ही पड़ेगा कि ये सब गलत है.

बबीता वाधवानी, जयपुर

अनुरोध

पाठकों एवं रचनाकारों से अनुरोध है कि

प्रतिक्रियायें एवं रचनाएँ यूनिकोड में भेजें

हमें सुविधा होगी.

रचनाओं के साथ संक्षिप्त परिचय एवं फोटो भी भेजें.

अंक के बारे में अपनी प्रतिक्रिया निम्नलिखित ईमेल पते पर भेजें :

garbhanal@ymail.com